आधुनिक हिन्दी काव्य

[नवीन प्रगति की मौलिक रचनाओं का संग्रह]

प्रयाग विश्वविद्यालय और लखनऊ विश्वविद्यालय

की

बी० ए० परीक्षा की पाठ्य-पुस्तक

सम्पादक

डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्०,

डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०,

प्रयाग विश्वविद्यालय

[संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण]

प्रकाशक

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर

जार्जटाउन, इलाहाबाद

बार] २००७ मूल्य ४)

मुद्रक—सुशीलचन्द्र वर्मा
सरस्वती प्रेस,
जार्जटाउन, इलाहाबाद।

निवेदन

प्रथम संस्करण

खड़ी बोली हिन्दी मे कविता की रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को किसी प्रकार भी मान्य नही थी। उन्होने अपने नाटको मे जहॉ गद्य की भाषा खड़ी बोली मानी है, वहॉ पद्य मे उन्होने ब्रज भाषा का प्रयोग किया है। पद्य मे खड़ी बोली का प्रयोग या तो उन्होंने 'अन्धेर नगरी' प्रहसन मे हास्य की सृष्टि करने के लिये किया है, अथवा 'चन्द्रावली' नाटिका के चतुर्थ अक मे, जहॉ वे योगनी से प्रेम की मर्यादा के विषय मे कुछ कहलाना चाहते। 'उन्होने' कुछ गजलों की रचना भी खडी बोली मे की। 'चन्द्रावली' नाटिका मे भारतेन्दु ने खडी बोली मे कविता की रचना प्रयोगात्मक रूप मे की, यद्यपि वे उसमे सफल नहीं हो सके। भारतेन्दु ने अपने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक निबन्ध मे इस विषय का निर्देश भी किया है। उन्होने खड़ी बोली का एक पद्य लिख कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कविता की भाषा खड़ी बोली नही है। वह अवतरण इस प्रकार है :—

"भजन करौ श्री कृष्ण का, मिल कर के सब लोग,
सिद्ध होयगा कामँ, औ छूटैगा सब सोग।

पडित श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के ग्रन्थो के अनुवाद मे अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया। उन्होने भी खडी बोली का प्रयोग पद्य रचना मे किया। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की भाति पाठकजी की रचना मे भी पूर्ण परिमार्जित शब्दावली नही है। पडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने पचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे, सभापति पडित श्रीधर पाठक के निर्वाचन सम्बन्धी प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उनकी कविता की प्रशसा इस प्रकार की थी :—जिन्होने आज तक पाठकजी की कविताएँ नही पढी है, उनसे अनुरोध है कि वह पढे और देखे कि पाठकजी कैसे मधुर कवि है! उनकी कविता का कुछ नमूना मै यहाँ सुनाता हूँ। 'एकान्तवासी योगी' की पहली पक्ति है .—

सुनिये झाडखड बनवासी, दयाशील हे वैरागी!
करके कृपा बता दो मुझको कहाँ जलै है वह आगी?

जो समझते है कि यह विशुद्ध खडी बोली की कविता है वह भूलते है। 'कहाँ जले है वह आगी' खडी बोली नही है खडी बोली है—'कहाँ जलती है वह आग।" सज्जनो, यह कविता इतनी मधुर इसी से हुई कि इसमे ब्रजभाषा की पुट है। अगर यह पुट न होती तो यह कविता सपुट हो जाती (हर्ष ध्वनि)।

'कहाँ जले है वह आगी' को लेकर दिसम्बर १६१४ और जनवरी फरवरी १६१५ के 'भारतमित्र' के अको मे 'पर्यालोचक' और 'विचारक' मे खूब वाग्युद्ध हुआ था जिसमे उक्त पक्ति को खडी बोली या ब्रजभाषा की पक्ति सिद्ध किया गया था। सत्य चाहे जिस ओर हो यह स्पष्ट है कि 'कहाँ जलै है वह आगी' खडी बोली का सर्वमान्य रूप नही है।

पंडित श्रीधर पाठक की कविता में खड़ी बोली अपने अपरिष्कृत रूप में है जिस पर ब्रज-भाषा का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित है।

खड़ी बोली कविता का वास्तविक प्रारम्भ श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविता से मानना चाहिए। श्री मैथिलीशरण ने हिन्दी गद्य की सुसंस्कृत शब्दावली को क्रियारूप के साथ सरस बना कर पद्य में स्थान दिया। न तो श्री मैथिलीशरण की कविता में भाषा का कोई असंस्कृत रूप है और न ब्रजभाषा का कोई प्रभाव ही। गुप्तजी के इस काव्य के परिमार्जित रूप का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनके समकालीन कवियों ने भी (जो कभी ब्रजभाषा में लिखते थे) खड़ी बोली की कविता में यथेष्ट परिमार्जन की मात्रा रक्खी। अतः श्री मैथिलीशरण गुप्त विशुद्ध खड़ी बोली के प्रथम कवि हैं। इसलिए यह संग्रह श्री मैथिलीशरण की कविता से प्रारम्भ होता है।

श्री मैथिलीशरण ने जिस भाव-धारा को अपनी कविता में प्रवाहित किया था, वह देश हित की भावना से पूर्ण थी। उसी से प्रेरित होकर उन्होंने 'भारत भारती' की रचना की। यह भाव धारा सम्भवतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'भारत दुर्दशा' या 'भारत जननी' से आयी हुई ज्ञात होती है। हिन्दी कविता में देश-भक्ति की भावना रीतिकाल के बाद सबसे पहले भारतेन्दु जी ने ही अपने नाटकों में रक्खी थी। उसी भावना को श्री मैथिलीशरण ने अपने अध्ययन का आधार देकर सुसंस्कृत किया। इसी लिए श्री मैथिलीशरण ने जिस भाव-धारा का प्रतिनिधित्व किया वह सर्व-कालीन धारा है। जिसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी दोनों के युग का प्रतिनिधित्व करने वाली भावनाएँ मिली हुई हैं।

प्रथम अभिव्यक्ति 'प्रसाद' जी की रचनाओ मे हुई। श्री 'निराला' ने इसी मनोवैज्ञानिक तत्व को दर्शन की जटिल शृंखलाओं मे कस कर भी कलात्मक रूप मे हमारे सामने रक्खा। यद्यपि मुक्त वृत्त की असयत पदावली हिन्दी की सगीत प्रिय परपरा को ग्राह्य नही हो सकी तथापि जिस उन्मेष और आवेग से 'निराला' ने काव्य की रेखा खींची वह हिन्दी मे अमिट होकर रह गयी। पडित सुमित्रानन्दनपन्त ने 'निराला' के विपरीत कविता मे उत्कृष्ट सगीत की सृष्टि की। उन्होने भावो को जिस कोमल रूप मे देखा, उसी कोमल रूप मे उनके शब्द भी सुसज्जित हुए। पन्त की भाव-धारा मे ससार की समस्त अभिव्यक्ति बडे मोहक रूप मे उपस्थित हुई। पन्त मे 'प्रसाद' और 'निराला' का दर्शन भी सगीत का रूप रख कर आया। पन्त मे यदि कोई दोष है तो वह यह कि उनमे जीवन का आवेग नही है। उनमे जीवन की वह कोमलता है जो पुरुष मे भी शृगार को भावना लिये हुए है। इसमे सन्देह नही कि जो उन्होने इधर जीवन की वास्तविकता को भी कविता की रेखाओं मे बाँधने का प्रयत्न किया है। 'नारी' शीर्षक रचना मे उन्होने यथार्थ वाद को सम्यवाद के रूप मे चित्रित किया है, किन्तु इस प्रकार की रचना मे काव्य का वह रूप प्रस्फुटित नही हुआ जो अमर रह सके। उसमे न तो सकेत ही है न और व्यजना और इन दोनों के बिना कविता की ध्वनि समय की दूर दिशाओ तक जाने मे असमर्थ है। अत. भौतिकवाद तभी कविता का अग हो सकता है जब उसमे चित्रित भावनाओ की ध्वनि व्यजनात्मक हो। पन्त का इस नवीन दिशा मे प्रयास भले ही श्लाघ्य हो, लेकिन कविता के दृष्टिकोण से अभी उसमे परिष्करण

नही हुआ । 'प्रसाद', 'निराला' और 'पन्त' की भावनाओ का सकेत पाकर नवीन धारा के उत्तरकालीन तीन कवि सर्वश्री महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा, जीवन मे अन्तर्हित रहस्यो को उद्घाटित करने मे समर्थ हुए। तीनो का भाव-जगत् स्थूल ससार मे भी सूक्ष्म प्रवृत्तियों को खोजने मे समर्थ हो सका, यद्यपि तीना की शैली भिन्न-भिन्न मार्ग के अनुसरण मे सलग्न हुई। श्रीमती महादेवी ने पीडा की परिधि मे अपने समस्त भाव-जगत को बसाया। उन्हाने जीवन के विनाश को जीवन का एक क्रम मानते हुए उसे स्वीकार किया और उसी मे आत्मा का निर्वाण पाया। अपने को केन्द्र-विन्दु मानते हुए श्रीमती महादेवी ने अपने आराध्य को परिधि के रूप मे खीच लिया है। उन्होने अपने दोषो के आवरण मे ही जीवन को प्रकाशमान करने के उपकरण प्राप्त किये है। जलन को अनपवार्य मानकर उन्होने उसी मे शान्ति की कल्पना की है। श्री रामकुमार वर्मा ने ससार की सारहीनता मे अपने आराध्य को और भी स्पष्ट पाया है। श्री रामकुमार मे रहस्यवाद की भावना विशेप प्रखर है। सकेत उनका साधन है। ससार के मिटने मे उन्हे क्षोभ है, रूप के विनाश में उन्हे कष्ट है, लेकिन उसके खॅडहरो से वे अपने आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करना चाहते है। वस्तुतः महादेवा और रामकुमार के दृष्टिकोण मे अधिक भेद नही है। दोना का आदर्श एक ही है, पर महादेवी ने पोडा और प्रेम को प्रधान माना है, राजकुमार ने करुणा और रूप को। महादेवी ने अपने आराध्य को स्पष्ट पाया है, राजकुमार ने सकेत मे। श्री भगवतीचरण वर्मा ने जीवन का सूक्ष्म तत्व जीवन के उद्वेग मे प्राप्त किया है। वे वस्तुवाद

के कायल हैं और समस्त भावावेग से वे संसार के चित्र खींचकर एक निष्कर्ष निकालना चाहते हैं। भगवतीचरण में संकेत बिलकुल नहीं है, आध्यात्मक ध्वनि भी नहीं। वे स्पष्टवादी हैं और सम्पूर्ण बल से संसार को समेट कर उसे कुछ तत्वों में केन्द्रीभूत कर देते हैं। भगवतीचरण वर्मा का आदेश ही उनके काव्य का जीवन है। इन तीनों कवियों के बाद इस शैली के अनेक कवि हुए जिन्होंने पूर्वोक्त कवियों के सिद्धान्तों को विविध दृष्टिकोण से पुष्ट किया।

कविता में राष्ट्रीय भावना का जो समावेश भारतेन्दु से हुआ था, उसका स्पष्टीकरण भी आधुनिक कविता में हुआ। जो देश-प्रेम की भावना भारतेन्दु ने उद्भूत की थी, उसका पल्लवित रूप श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविता से होता हुआ राष्ट्रीय धारा के कवि सर्वश्री 'एक भारतीय आत्मा,' 'नवीन,' सुभद्राकुमारी और गया प्रसाद शुक्ल की कविता में विशेष प्रकार से आकर्षक हुआ। 'एक भारतीय आत्मा' ने काव्य की आत्मा से राष्ट्रीयता को सम्बद्ध कर एक नवीन शैली का सूत्रपात किया। काव्य के अन्तर्गत रहस्यवाद को उन्होंने देश-प्रेम में परिणत कर दिया। यद्यपि कलात्मक रूप की व्यंजना 'एक भारतीय आत्मा' को रुचिकर नहीं हुई, तथापि वे शब्द चित्रों के निर्माण से अपने को विरत नहीं कर सके। जनता की भावना तक पहुंचने के लिए उन्होंने भाषा को साधारण ही रक्खा, इससे भी उनकी कलात्मकता की हानि हुई। भाव-चित्रण में 'एक भारतीय आत्मा' सिद्धहस्त हैं। इसी आदर्श का पालन 'नवीन' ने भी किया किन्तु उनमें रहस्य

वाद की अपेक्षा भावावेश का प्राधान्य है। साधारण शब्दो मे जैसे ज्वालामुखी का अग्नि-प्रवाह है और वह देश-प्रेम की दिशा मे प्रवाहित है। 'नवीन' कहीं कहीं सौन्दर्य की भावना मे कोमल है, शायद उस वीर की तरह जो युद्ध और अन्त:पुर दोनो स्थलो मे उत्साह से पूर्ण है और जीवन के पहलुओ का कायल है। श्रीमती सुभद्राकुमारी मे स्वाभाविक तेज है जो नारी के आदर्श से मिल कर और भी प्रखर हो गया है। शब्दो मे सौकुमार्य है, पर अर्थ मे उन्मेष। श्रीमती सुभद्राकुमारी की कविता भी दोनो दिशाओ मे है। जहाँ एक ओर वह प्रेम-भावना के सुन्दर चित्र तैयार करती है, दूसरी ओर वह क्षत्राणी की ललकार मे प्रति ध्वनित होती है। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल' ने अधिकतर राष्ट्रीय कविताएँ लिखी हैं यद्यपि अन्य प्रकार की रचनाओ मे भी उनका दृष्टिकोण है। इसीलिए वे 'सनेही' और 'त्रिशूल' दो उपनाम साथ-साथ चला सके। उर्दू और हिन्दी मे उन्होने देश-प्रेम की जो धारा प्रवाहित की, उसमे स्पष्टत वर्णनात्मकता है। देश प्रेम की सीधी भावना को उन्होने सीधे शब्दों मे वर्णन करना ही अधिक उचित समझा है, यद्यपि उस सरल शैली मे भी जागृति है, उत्साह है और उमग की अजेय शक्ति। इस प्रकार राष्ट्रीय-धारा के कवियों ने दो चित्र उपस्थित किये हैं—एक शृगार का और दूसरा वीर का और दोनो मे उन्होने समान रूप से सफल रचनाएँ की हैं।

हिन्दी कविता की मुख्य धाराओ और उनके कवियो का यह सक्षिप्त निरूपण है। इस सग्रह मे जो अन्य कवियो के नाम नहीं आ सके हैं, उसका कारण केवल विस्तार-भय ही है, किसी के प्रति

उपेक्षा का भाव नहीं । किसी विशेष धारा मे जो कवि साधारण रूप वर सके हैं, उन्हीं की चुनी हुई रचनाओ का यह सग्रह है। इस सग्रह मे कुछ कवियों के स्थान पर कुछ अन्य कवि भी आ सकते हे और कुछ रचनाओ के स्थान पर अन्य रचनाएँ भी रक्खी जा सकती हैं। पर यह तो रुचि-भेद है, अत॰ हम इस सग्रह को प्रस्तुत करते हुए आशा करते हे कि इससे हिन्दी के विद्यार्थियो और कविता के जिज्ञासुओ को हिन्दी कविता की प्रवृत्तियो को समझने में सहायता मिलेगी।

———

द्वितीय संस्करण की भूमिका

हिन्दी विद्यार्थियो तथा विद्वानो के प्रति हम कृतज्ञ हैं कि इस पुस्तक के तीसरे सस्करण का अवसर प्राप्त हुआ। इस सस्करण में कुछ परिवर्तन और सशोधन करना आवश्यक हो गया। पुस्तक के प्रथम सस्करण से इस समय तक हिन्दी कविता मे यथेष्ट प्रगति हुई है और आधुनिक हिन्दी काव्य मे उस प्रगति का समावेश होना चाहिए। विशेषकर जब यह पुस्तक विश्वविद्यालय मे पाठ्य पुस्तक के रूप मे निर्धारित है तब विद्यार्थियो को कविता की आधुनिक प्रगति से पूर्ण परिचित होना चाहिए।

इस सस्करण मे नवीन धारा (उत्तर) के उपरान्त मध्य धारा का भी समावेश कर दिया गया है। इसे मध्य धारा का नाम इसलिए दिया गया है कि इस धारा के कवियो ने नवीन-धारा (उत्तर) के कवियो की विचार-धारा के साथ ही हिन्दी की अन्य प्रवृत्तियों का समावेश भी अपने काव्य में किया है। इस धारा मे तीन कवि रक्खे गये हैं—सर्व श्री सियारामशरण गुप्त, हरिवशराय 'बच्चन' और उदयशङ्कर भट्ट। श्री सियारामशरण गुप्त ने रहस्यात्मक भावनाओ के साथ ही अपने काव्य मे कथा साहित्य की सृष्टि करते हुए सामाजिक रूढियो को नष्ट करने की

चेष्टा की है। उनके सामने 'वीर पूजा' की भावना भी प्रमुख रूप मे है। "बापू' पर उन्होंने एक स्वतन्त्र काव्य लिखा है जो अन्य किसी कवि द्वारा 'वीर पूजा' की भावना से नही लिखा गया। साथ ही सामयिक घटनाओ पर भी उनकी दृष्टि चली जाती है। इस प्रकार सकेत के साथ उनके सामने वस्तुवाद का नग्न सत्य भी उपस्थित होता है जिस कारण वे मध्यधारा के प्रथम कवि माने जा सकते है।

श्री हरवश राय 'बच्चन' ने रहस्यवादी भावान्वेषण के साथ ही साथ अपने जीवन की विषमताओं का स्पष्ट चित्रण किया है। 'मधुशाला' मे खैयाम की व्यजना का आधार लेते हुए उन्होंने जीवन के अनेक तथ्यो का अन्वेषण किया है। साथ ही 'मधुशाला' के बाद की रचनाओं मे उन्होंने प्रकृति का आश्रय लेते हुए जीवन की विकलताओ और भावनाओ की प्रतिक्रियाओं का अत्यत स्पष्ट शब्दों मे चित्रण किया है। परिस्थितियो मे सघर्षशील प्रवृत्ति का उन्होने बड़ा ही सुन्दर निर्देश किया है। उनकी सब से बड़ी कमी यही रही कि कविताओ में वे भारतीय सस्कृति की छाप नही ला सके जो श्री सियारामशरण गुप्त सरलता से उपस्थित कर सके हैं।

श्री उदयशङ्कर भट्ट बडे अशान्त कवि हैं। उनकी रचनाओं मे विद्रोह की ऐसी प्रखर ज्वाला है कि उनकी काव्य चेतना मे अशान्ति का वातावरण उपस्थित कर देती है। यों उनकी रचनाओं मे प्रायः वही पृष्ठ-भूमि है जो नवीन धारा (उत्तर) के कवियों में वर्तमान है। वे प्रकृति का चित्रण भी प्रायः नवीन धारा के कवियों की भाँति ही करते है किन्तु विद्रोह-भावना के कारण उनके चित्र विकृत हो जाते हैं। उनकी

काव्य धारा साहित्यिक मर्यादाओ का अतिक्रमण करती हुई फूट निकलती है। उनकी रचनाओ मे आधुनिक अशान्ति के चित्र विशेष रूप से मिलते हैं। यद्यपि वे आधुनिक अर्थ मे 'प्रगतिशील' कवि नहीं बन पाये हैं किन्तु किसान और मजदूर के सतापों से वे अवश्य अशान्त और व्यथित हो उठे हैं। साहित्य की मध्ययुगीन छाप लेकर भी वे वर्तमान परिस्थितियो से आक्रान्त हैं। इस प्रकार वे मध्यधारा के तीसरे कवि हैं।

इस सस्करण मे राष्ट्रीय धारा के अन्तर्गत थोडा सा परिवर्तन कर दिया गया है। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के स्थान पर श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' की रचानएँ रख दी गई हैं। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की राष्ट्रीय भाव-धारा का साहित्य मे स्थान अवश्य है किन्तु आधुनिक काव्य के विकास मे उस भाव-धारा को हम इतिहास की वस्तु मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इधर श्री 'दिनकर' ने राष्ट्रीयता के क्षेत्र मे सुन्दर कविताओं की रचना की है। अत. विस्तार भय से श्री 'सनेही' के स्थान पर श्री 'दिनकर' की कविताएँ रख दी गई हैं। श्री 'दिनकर' ने राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण अत्यन्त सास्कृतिक ढग से ग्रहण किया है। एक ओर जहाँ उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओ को सजीव बनाते हुए हमारे प्राणों मे उत्साह की जागृति की है, वहाँ उन्होंने वर्तमान परिस्थितियों से—वर्तमान विवशताओं से—संघर्ष लेने की हुँकार भी प्रतिध्वनित की है। वे ऐसे राष्ट्रीय कवि हैं जिन्होंने अपने देश की प्रत्येक स्थिति की जानकारी रखते हुए स्वतन्त्रता के क्षेत्र मे आगे बढ़ने की उमग उत्पन्न की है। इसीलिए इस सस्करण मे उनकी रचनाओं

को स्थान दिया गया है। इसके साथ ही श्री 'सनेही' जी की रचनाओं के प्रति हम श्रद्धावनत होते हुए उनकी रचनाओं को अन्य सग्रहों में स्थान देना उचित समझते हैं।

हम अपने कवि-मित्रों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने मुक्त हृदय से अपनी रचनाओं को इस सग्रह मे सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान की। उनकी अनुमति प्राप्त करके ही हम यह अवसर प्राप्त कर सके कि विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियो को आधुनिक काव्य प्रगति में उनकी रचनाओं के वास्तविक महत्व और मूल्य का ज्ञान दे सकें।

आशा है, 'आधुनिक हिन्दी काव्य' के इस परिवर्द्धित और सशोधित संस्करण से कविता प्रेमी पाठको, विद्यार्थियों और विद्वानों की सुरुचि को पूर्ण सन्तोष होगा।

धीरेन्द्र वर्मा
रामकुमार वर्मा

विषय-सूची

सन्धि-कालीन धारा

नवीन धारा (पूर्व)

नवीन धारा (उत्तर)

मध्य धारा

राष्ट्रीय धारा

———

सन्धि कालीन धारा

श्री मैथिली शरण गुप्त

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय

श्री रामनरेश त्रिपाठी

श्री गोपाल शरण सिंह

आधुनिक हिन्दी काव्य

श्री मैथिलीशरण गुप्त

श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्हें सम्वत् १६६३ में 'साकेत' ग्रन्थ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। हिन्दी साहित्य संसार ने उनका सम्मान 'गुप्त जयन्ती' मनाकर और 'मैथिली-मान-ग्रन्थ' समर्पित कर किया था। ये द्विवेदी काल के कवि हैं और उसी समय से अपनी कविता का परिमार्जन और संस्करण करते चले आ रहे हैं। यद्यपि बाबू मैथिलीशरण उपन्यासकार या कहानी लेखक नहीं हैं, तथापि उनकी कविता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उन्होंने धार्मिक, ऐतिहासिक,



पौराणिक, राष्ट्रीय और साहित्यिक कृतियाँ हिन्दी संसार को दी हैं। 'चन्द्रहास' या 'तिलोत्तमा' जैसे नाटक भी लिखे हैं, पर चरित्रों के संग्रह में असफलता पाने के कारण वे नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध नहीं हो सके। ये नाटक पौराणिक ही हैं, कथा के विकास में उनकी कल्पना

सहायक नही हुई। वे कथा को उसी रूप मे अपने काव्य की पुट मिलाकर रख देते हैं। धार्मिक रचनाओं में 'हिन्दू', 'तेग बहादुर' आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओं मे ये राष्ट्रीय भी हो गये हैं और हमारे सामने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि कवि के रूप मे भी आये हैं।

पहले पहल 'रग मे भग', 'भारत भारती' और 'जयद्रथ बध' में हमें कवि का परिचय मिला। 'रग मे भग' एक ऐतिहासिक वृत्त है जिसमें वर्णनात्मकता अधिक है। 'भारत भारती' ने हमे कवि की राष्ट्रीयता के बहुत निकट ला दिया। उन्होंने भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य के चित्र स्पष्टता और काव्य-कौशल से खींचे। इसी ग्रन्थ ने कवि को लोक-प्रियता प्रदान की। अपने समय में 'भारत भारती' की रचना से हिन्दी साहित्य आलोकित हो उठा था। 'जयद्रथ बध' मे अभिमन्यु का शौर्य और उत्तरा का विलाप वर्णित है। यह एक खड काव्य है। वीर और करुणा—दो विपरीत रस—स्थान स्थान पर अद्वितीय रूप में हैं। करुण रस तो मानो उत्तरा के आँसुओ से ही लिखा गया है। उसने हिन्दी के न जाने कितने पाठकों की आँखों से आँसू बहा दिये हैं।

साहित्य की प्रगति मे गुप्त जी ने पूरा योग दिया है। कविता की आधुनिक प्रगति में भी वे पीछे नही रहे हैं। उन्होंने 'झंकार' नामक कविता-ग्रन्थ मे छायावाद की भावना को बहुत स्पष्ट कर दिया है। उसमें भी 'अनन्त' के लिए आसक्ति है। पर गुप्त जी का यह 'अनन्त' उपनिषदों का ब्रह्म है और वे उसे पाने के प्रयत्न की परिधि भौतिकवाद

के विन्दु से खींचते हैं। वर्तमान कविता का दृष्टिकोण वे सफलता-पूर्वक रखने में समर्थ हो सके हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों में 'साकेत' और द्वापर की रचना कर अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। 'साकेत' में गुप्त जी ने कैकेयी और उर्मिला के चित्रण में अपनी प्रतिमा का चमत्कार दिखलाया है। 'द्वापर' में उन्होंने कृष्ण-चरित्र के प्रत्येक पात्र की रूप-रेखा खींचकर भ्रमरगीत को नवीन रूप से लिखा है।

'यशोधरा' एक ऐतिहासिक वृत्त है। सिद्धार्थ के गृह-त्याग पर उनकी पत्नी यशोधरा के स्त्री-हृदय का चित्रण अद्वितीय है।

अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध, और आँखों में पानी।

के सिद्धान्त पर ही इसकी रचना हुई है। हृदय के चित्रण में 'यशोधरा' का विशेष स्थान है। सं० १९९४ में प्रकाशित 'मंगल घट' में उनकी पुरानी कविताएँ संग्रहीत हैं जिनमें से अधिकांश पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कविता कलाप' में प्रकाशित हो चुकी थीं।

सम्वत् १९९७ में श्री गुप्तजी ने 'नहुष' की रचना की। यह काव्य पौराणिक इतिवृत्त का आधार लेकर भी आधुनिक युग का सन्देश-वाहक क्रांतिदूत है। पतन में भी मानवता कितने ऊपर उठ सकती है, इसका चित्र 'नहुष' के पृष्ठों में है। सम्वत् १९९९ में गुप्तजी के चार ग्रन्थ प्रकाशित हुए; 'कुणाल गीत', 'अर्जन और विसर्जन', 'विश्व-वेदना तथा 'काबा और कर्बला'। इनमें भावोत्कृष्टता की दृष्टि से 'कुणाल गीत'

सर्वोत्कृष्ट है। इसमे व्यथित हृदय के उद्‌गारो को बड़ी मनोरम कलात्मकता प्रदान की गई है।

अरी भावती, भामिनी!
मेरी कांचन कामिनी!

जैसे गीत भावना के क्षेत्र मे अमर हैं। इसमे नारी-विज्ञान की भी यत्र तत्र बडी सुन्दर झलक है। "काबा और कर्बला" मे कवि ने इस्लाम धर्म के विकास को बड़ी सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व और इमाम हुसैन के चरित्र चित्रण मे मानवता के गाम्भीर्य को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसके द्वारा कवि ने साम्प्रदायिकता का नही, विश्व-मैत्री का सन्देश दिया है। 'अर्जन और विसर्जन' मे इउडोसिया और मूर-महिषी काहिना का प्रोज्ज्वल चरित्र चित्रित किया गया है। 'विश्व-वेदना' में पिछले महायुद्ध और वर्तमान युद्ध मे मानवता के त्रास के कुछ हृदयग्राही चित्र हैं। 'काबा और कर्बला', 'अर्जन और विसर्जन' एव 'विश्व वेदना' मे वर्णनात्मकता ही प्रधान हैं। सम्भवत' ये रचनाएँ कवि के विश्राम-क्षणो की कृतिया हैं जिनमे वह आप बीती और जगबीती अधिक कहता है।

मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिभा हिन्दी मे अद्वितीय है। वे अब भी उतने ही नवीन है, जितने तीस वर्ष पहले थे।

११ अगस्त १९४५ को साठ वर्ष की समाप्ति पर महाकवि की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई है।

आँख मिचौनी

अच्छी आँख - मिचौनी खेली,

बार बार तुम छिपो और मै
खोजूँ तुम्हे अकेली।

किसी शान्त एकान्त कुंज मे,
तुम जाकर सो जाओ,
भटकूँ इधर उधर मै, इसमे
क्या रस है बतलाओ?

यदि मै छिपूँ और तुम खोजो,
अनायास ही पाओ,
कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूँ मैं,
जाने भी दो—आओ।

करें बैठ रँग रेली।
अच्छी आँख-मिचौनी खेली।

पर जब तुम हो सभी कहीं, तब,
मै ही क्यो यो भटकूँ,
चाहूँ जिधर उधर ही अपना
भार पटक कर सटकूँ,

इसकी भी क्या आवश्यकता
जो बाहर पर अटकूँ,
अन्तर के ही अन्धकार में
क्यो न पीत पट झटकूँ ?

बन अपनी ही चेली।
अच्छी आँख मिचौनी खेली।

उर्मिला की विरह-व्यथा

वेदने, तू भी भली बनी,
पायी मैने आज तुझी मे अपनी चाह घनी।
नयी किरण छोडी है तूने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं; साल हृदय मे, ओ प्रिय-विशिख-अनी !
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपन-मनी !

आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी !
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी !
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को, देखूँ खिंची-तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी त्यागूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण-धनी।

कहती मैं, चातकि, फिर बोल
ये खारी आँसू की बूँदें दे सकतीं यदि मोल !
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल ?
फिर भी, फिर भी, इस झाड़ी के झुरपुट में रस घोल,
श्रुति-पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ीं यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल !
जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयम् हिल-डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल-खगोल।
न कर वेदना-सुख से वंचित, बढ़ा हृदय-हिन्दोल,
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल !

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये !
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये !

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे है कमल, अधर-मे ये बन्धूक सुहाये !
स्वागत ! स्वागत शरद ! भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे लो, ये-अश्रु अर्घ्य भर लाये !

शिशिर, न फिर, गिरि-वन मे,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मै इस निज नन्दन मे,
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन मे,
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन मे ?
वीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती-सा मै अकिंचना रक्खूँ उसको मन में,
हँसी गयी, रो भी न सकूँ मै-अपने इस जीवन में,
तो उत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या हो भाव-भुवन मे ।

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो ।
होकर मधु के मीत, मदन पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो ।
नहीं भोगनी यह मै कोई जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह – यह हर-नेत्र निहारो ।
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो !

यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में ।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे, पर साथ साथ ही समाधान भरपूर ।
हर्ष डूबा हो रोदन में,
यही आता है इस मन में,
बीच-बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लेटूँ उसी धूल में लोट ।
रहें रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में ।
जाती-जाती, गाती-गाती, कह जाऊँ यह बात—
धन के पीछे जन, जगती में उचित नहीं उत्पात ।
प्रेम की ही जय जीवन में,
यही आता है इस मन में;

कैकेयी का परिताप

तदनन्तर बैठी सभा उटज के आगे,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे,
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे ।

उत्फुल्ल, करौंदी-कुंज वायु रह रह कर,
करती थी सबको पुलक-पूर्ण मह मह कर।
वह चन्द्रलोक था कहाँ चाँदनी वैसी ?
प्रभु बोले गिरा गँभीर नीर-निधि जैसी,

"हे भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना,"
सब सजग हो गये भङ्ग हुआ ज्यों सपना।
"हे आर्य, रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकटक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प-तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा !
अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझ से मैंने ही आज स्वयम् मुँह फेरा,
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?"
प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन-जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा,

उस के आशय की थाह मिलेगी किसको,
"जन कर जननी ही जान न पायी जिसको ?"
"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को",
चौंके सब सुन कर अटल कैकयी स्वर को।
सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य तुषारावृता यथा विधु-लेखा,
बैठी थी अचल तथापि असख्य तरगा,
वह सिंही अब थी, हहा! गोमुखी गगा —
"हाँ, जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें तुमने स्वयम् अभी यह माना,
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया।
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिन्ह विशेष शपथ है,
पर, अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है ?
यदि मैं उकसायी गयी भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयम् पुत्र भी खोऊँ।
ठहरो, मत रोको मुझे—कहूँ सो सुन लो—
पाओ यदि उसमें सार, उसे सब चुन लो।
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?"
थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती

उल्का सी रानी, दिशा दीप्त करती थी ;
सब मे भय, विस्मय. और खेद भरती थी।
'क्या कर सकती थी मरी मन्थरा दासी ?
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल, पजर-गत अब, अरे अधीर अभागे
वे ज्वलित भाव थे स्वयम तुझी मे जागे,
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन मे ?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन मे ?
कुछ मूल्य नही वात्सल्यमात्र क्या तेरा ?
पर आज अन्य सा हुआ वत्स भी मेरा !
थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे क्यों चूके !
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे !
कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,
'है पुत्र पुत्र ही, रहें कुमाता माता।'
बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा ;
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय, आज यह बाधा !

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
　　　　'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
　　　　'धिक्कार उसे था महास्वार्थ ने घेरा।'
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
　　　　जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
　　　　'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"
"हा लाल! उसे भी आज गंवाया मैंने,
　　　　विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने,
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,
　　　　हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने,
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
　　　　शंकित सब से धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखंड आज अंगार-चंड है मेरा,
　　　　फिर इससे बढ़ कर कौन दंड है मेरा?
पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,
　　　　जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में?
हा! दंड कौन? क्या उसे डरूँगी अब भी?
　　　　मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी,
हा दया! हन्त! वह घृणा! अहह वह करुणा!
　　　　वैतरणी-सी है आज जाह्नवी-वरुणा!!

सह सकती हूँ चिर नरक, सुने सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।
लेकर अपना यह कुलिश कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए तुम्हें बन भेजा।
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम
अपने से पहले इसे मानते हो तुम,
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा।
तो पाप-दोष भी पुन्य-दोष है मेरा,
मैं रहूँ पंकिला, पद्म-कोष है मेरा।
आगत ज्ञानी जन, उच्च भाल ले ले कर
समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर,
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा,
देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है,
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।'
हँस पड़े कैकयी-कथन देव यों सुन कर,
रो दिया क्षुब्ध दुर्दैव दैत्य सिर धुन कर,

"छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,
बल दिया उसी ने भूल मान लेने का,
अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही कैकयी, वही राम तुम मेरे।
होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अन्धेरी,
जीजी आकर करती पुकार थीं मेरी—
'लो कुहकिनि, अपना कुहक, राम यह जागा,
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा!'
भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ संशय का
प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का।
तुम पर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती,
तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती।
जीजी ही आतीं—किन्तु कौन मानेगा?
जो अन्तर्यामी, वही इसे जानेगा।"
'हे अम्ब, तुम्हारा राम जानता है सब,
इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?"
"क्या स्वाभिमान रखती न कैकयी रानी?
बतला दे कोई मुझे उच्चकुल मानी।
सहती कोई अपमान तुम्हारा अम्बा?
पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा।
मैं सहज मानिनी रही, वही क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।

पर महादीन हो गया आज मन मेरा,
भावज्ञ, सहे जो तुम्हीं भाव-धन मेरा।
समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने घेरा,
समझाता कौन सशान्ति मुझे, भ्रम मेरा ?
यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को,
मै बैठी ही रह गयी लिये इस उर को ?
बुझ गयी पिता की चिता भरत भुज-धारी,
पितृ-भूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी।
भय और शोक सब दूर उडाओ उसका,
चलकर सुचरित, फिर हृदय जुडाओ उसका,
हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो,
मै पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो।
स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मै,
मर कर तो उसको दिखा सकूँ यह मुख मैं।
मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा,
पर भरत-वाक्य है—सहूँ विश्व की व्रीड़ा।
जीवन-नाटक का अन्त कठिन है मेरा,
प्रस्ताव-मात्र मे जहाँ अधैर्य अंधेरा।
अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,
करती है तुमसे विनय आज यह माता।"

(साकेत से)

यशोधरा

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।
स्वयम् सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।
हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा?
जिसने अपनाया था, त्यागा;

रहें स्मरण ही आते।
सखि वे मुझसे कह कर जाते।
नयन उन्हें है निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।
जाँय, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।
गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते ?
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

———

परीक्षा

अब कठोर हो वज्रादपि, ओ कुसुमादपि सुकुमारी,
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।
मेरे लिए पिता ने सब से धीर वीर बर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा?
क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सब ने मेरा भाग्य सराहा, सब ने रूप बखाना,
खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक-ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना,
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
मैं अबला! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्त! पर वे कब थे विषयों के चेरे?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव क्या विषय-मात्र थे तेरे?
हा! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे!

है नारीत्व मुक्ति में भी तो, ओ वैराग्य-विहारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।
सिद्धि मार्ग की बाधा नारी ! फिर उसकी क्या गति है ?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है !
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है।
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु पति है !
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी ?
यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्षा करने आली,
तरस न खाओ कोई उस पर, आओ भोली-भाली !
तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख वाली,
बधू-वंश की लाज दैव ने आज मुझी पर डाली
बस, जातीय सहानुभूति ही मुझ पर रहे तुम्हारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
जाओ नाथ, अमृत लाओ तुम, मुझ में मेरा पानी;
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी; मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी:
कहाँ तुम्हारी गुण गाथा में मेरी करुण-कहानी ?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा कर-धारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

(यशोधरा से)

गोपी

राधा का प्रणाम मुझ से लो,
श्याम-सखे; तुम ज्ञानी;
ज्ञान भूल, बन बैठा उसका,
रोम रोम ध्रुव-ध्यानी।
न तो आज कुछ कहती है वह,
और न कुछ सुनती है;
अन्तर्यामी ही यह जाने,
क्या गुनती बुनती है?
कर सकती तो करती तुम से
प्रश्न आप वह ऐसे—
"सखे, लौट आये गोकुल से?
कहो, राधिका कैसे?"
राधा हरि बन गयी, हाय! यदि
हरि राधा बन पाते,
तो उद्धव मधुवन से उलटे।
तुम मधुपुर ही जाते।
अभी विलोक एक अलि उड़ता,
उसने चौंक कहा था—
"सखि, वह आया, इस कलिका में
क्या कुछ शेष रहा था?"

पर तत्क्षण ही गरज उठी वह
भौंह चढ़ा कर बाँकी —
"सावधान अलि! हट कर लेना
तू प्यारी की झाँकी!"

आत्मज्ञान-हीन वह मुग्धा
वही ज्ञान तुम लाये,
धन्यवाद है बड़ी कृपा की,
कष्ट उठा कर आये।
पर वह भूली रहे आपको,
उसको सुध न दिलाना,
होगा कठिन अन्यथा उसका
जीना और जिलाना।

डूबी-सी वह बीच-बीच मे
पलक खोल कर आये,
चिल्ला उठती है बिलोल सी
बोल—'राधिके, राधे!'
ज्ञान-योग से हमे हमारा
प्रेम वियोग भला है
जिसमे आकृति, प्रकृति, रूप, गुण,
नाट्य, कवित्त्व, कला है।

राम राम! मिथ्या माया के
भाव कहाँ से जागे?
सच्चे ज्ञान, अनन्त ब्रह्म के
जीव आप तुम आगे!
विद्यमान सब विगत क्यो न हो,
किन्तु समागत भावी,
मिथ्या कैसे है माया भी,
जब तक वह मायावी?

हम मे तुम मे एक ब्रह्म, पर
वह कैसा नटखट है,
बोलो, दो घट मे दो बाते,
करा रहा खटपट है।
उसको यही प्रपच रुचे तो
हमे कौन सी व्रीडा?
एक-मात्र यदि वही रहे तो
चले कहाँ से क्रीड़ा?

होगा निर्गुण; निराकार वह,
छली तुम्हारे लेखे;
हम से पूछो तुम, उसके गुन—
रूप हमारे देखे।

अन्तर्दृष्टि मिले तो हम भी
शून्य देख लें अब के;
पर जब तक हैं, कहो क्या करें—
चर्म-चक्षु हम सब के?

कहाँ हमारा कृष्ण, हाय! हम
यह क्या तुम्हें बतावें;
ठौर नहीं दिखलायी पड़ता,
उसको जहाँ जतावें।
अब तक यहाँ ध्यान में तो था
वह मोहन मन-भाया,
किन्तु आ अड़ी आज बीच में
कूद ज्ञान की माया।

चाहे क्या राधा वियोगिनी,
स्वयम् योग लाये तुम,
आहा! क्या ज्ञानाग्नि-रूप में
भाग्य-भोग लाये तुम!
दृश्यमान का भस्म लेप कर
फिरे योगिनी बन में;
उसका योगिराज, वह राजे
मथुरा - राज - भवन में!

क्या जानें, ज्ञानी ने उसका
ज्ञान, कहाँ कब सीखा,
ज्ञान और अज्ञान हमें तो
यहाँ एक-सा दीखा!
देख न पावें आप आप को,
ये आँखें तो भय क्या?
सब में उस अपने को देखें,
तब भी कुछ संशय क्या?

गायें यहाँ घेरनी पड़तीं,
नाच नाचना पड़ता;
वह रस गोरस कभी चुराना,
कभी जाँचना पड़ता।
राजनीति का खेल वहाँ है
सूक्ष्म-बुद्धि पर सारा;
निराकार-सा हुआ ठीक ही,
वह साकार हमारा।

आते-जाते प्रति दिन बन से
घर, फिर घर से बन को,
वह बढ़ गया और कुछ उस दिन
नगर पवन सेवन को!

यही बहुत हम ग्रामीणो को
जो न वहाँ वह भूला,
किंवा संग वहाँ भी थी यह
कालिन्दी कल—कूला ।

सचमुच ही हम देख रही थीं
जगते जगते सपना,
जहाँ रहे बस सुखी रहे वह,
दु ख हमारा अपना ।
यौवन सा शैशव था उसका,
यौवन का क्या कहना ?
कुब्जा से बिनती कर देना—
'उसे देखती रहना ।'

कृपया वचन न मन मे रखना
तुम अन्यान्य हमारे,
प्रिय के बन्धु, अतिथि हो उद्धव,
तुम सम्मान्य हमारे ।
विवशो का मन, वाणी को भी,
व्याकुल कर देता है,
आर्त्तो का आक्रोश ईश भी
सुन कर सह लेता है ।

ज्ञानी हो तुम किन्तु भाग्य तो
अपना अपना होता,
वक्ता भी क्या करे, न पावे
यदि अधिकारी श्रोता ?
हम अपने को जान न पायी,
उसको क्या जानेगी ?
मन की बात मानती आयी,
मन की ही मानेगी।

निर्गुण निपट निरीह आप हम,
सभी रूप गुण भागे।
निराकार ही निराकार है
आज हमारे आगे,
राधा के अनुरूप जोग की
कोई जुगत जुगाते,
उद्धव, हाय ! राज-हंसी को
तुम हीरे न चुराते।

क्या समझाते हो तुम हमको,
वह अरूप है, ओहो !
गोचारी, गोपाल हमारा,
रहे अगोचर, जो हो !

हमे मोह ही सही, किन्तु वह
उसी मनोमोहन का,
काम, किन्तु वह उसी श्याम का,
लोभ उसी जन-धन का।

ज्ञान-योग लेकर सुषुप्ति ही
तुम न सिखाने आये,
जागृति को समाधि-निद्रा का
स्वप्न दिखाने आये ?
नाम-मात्र का ब्रह्म तुम्हारा,
रहे तुम्हें फलदायक,
उद्धव, नहीं निरीह हमारा,
नटवर, नागर, नायक।

निज विराट को छोड़, सूक्ष्म से
कौन यहाँ सिर मारे ?
धार सके उसको जो जितना,
जी भर-भर कर धारे;
वे अघ-वक सब कहाँ गये अब ?
अरे, एक तो आवे !
देखे हमको छोड़ हमारा
छली कहाँ फिर जावे।

अन्तवन्त हम हन्त! कहाँ से
वह अनन्तता लावे?
इस मृण्मय मे ही निज चिन्मय
पावे, तो हम पावे,
सिमिट एक सीमा मे, मानो
अपने मे न समाता;
मिला हमे ऐसे वह जैसे
छोड हमी से नाता।

क्या बतलावें, वह वशीधर
कैसा आया हम मे?
ताल न आया होगा ऐसा
कभी किसी की सम मे,
जीवन मे यौवन-सा आया,
यौवन मे मधु-मद-सा,
उस मद मे भी, छोड़ परम पद,
आया वह गद्गद्-सा!

बृन्दावन मे नव मधु आया,
मधु मे मन्मथ आया;
उसमें तन, तन मे मन, मन मे
एक मनोरथ आया।

उसमे आकर्षण, हाँ, राधा
आकर्षण मे आयी,
राधा मे माधव, माधव में
राधा - मूर्त्ति समायी।

यही सृष्टि की तथा प्रलय की
उद्धव ! कथा हमारी,
पर कितना आनन्द हमारा !
कितनी व्यथा हमारी,
कहो, इसे हम किसे जनावे,
कौन कहाँ जानेगा ?
कौन भूल कर आप आपको,
पर को पहचानेगा ?

नयी अरुणिमा जगी अनल मे,
नवलोज्ज्वलता जल मे
नभ मे नव्य नीलिमा, नूतन
हरियाली भूतल मे
नया रग आया समीर मे,
नया गन्ध गुण छाया,
प्राण-तुल्य पाँचो तत्वो मे
वह पीताम्बर आया।

कोटि कमल फूटे, कमलो पर
आ-आ कर अलि टूटे,
चित्र पतग विचित्र पटो की
प्रतिकृति लेने छूटे,
पात-पात मे फूल और थे
डाल-डाल मे झूले,
वन की रँग-रलियो मे हम सब
घर की गलियाँ भूले!

नयी तरंगे थीं यमुना मे,
नयी उमगें व्रज मे,
तीन लोक-से दीख रहे थे
लोट-पोट इस रज मे,
ऊपर वटा घिरी थी, नीचे
पुलक कदम्ब खिले थे,
झूम-झूम रस की रिम-झिम मे
दोनो हिले-मिले थे।

मद का कहो, अँधेरा-सा ही
आया श्याम सही था,
राधा का छिप गया सभी कुछ,
वह थी और वही था!

किन्तु गया उजियाले-सा वह,
उलटा हुआ यहाँ है,
देश-काल सब अड़े खड़े हैं
राधा किन्तु कहाँ है ?

आँख-मिचौनी में वह भागा
हमने पकड़ न पाया,
देर हुई तो चातक तक ने
रह-रह रोर मचाया,
हँसा किन्तु भेदी पिक हा ! हा !
हू ! हू ! कर इतराया,
तब केकी ने नाच निकट ही
कृपया पता बताया !

उद्धव ! वे दिन भूलेंगे क्या,
तुम्हीं बता दो, कैसे ?
संकट भी जब हुए हमारे
क्रीड़ा-कौतुक जैसे !

नहुष का पतन

मत्त-सा नहुष चला बैठ ऋषि-यान में,
व्याकुल-से देव चले साथ में; विमान में।
पिछड़े तो वाहक विशेषता से भार की,
आरोही अधीर हुआ प्रेरणा से मार की!

"दीखता है कठिन मुझे तो मार्ग कटना,
यह बढ़ना है तो कहूँ मैं किसे हटना?
बस, क्या यही है बस, विधियाँ गढ़ो?
अश्व से अड़ो न अरे, कुछ तो बढ़ो, बढ़ो।"

बार बार कन्धे फेरने को, ऋषि अटके,
आतुर हो राजा ने स-रोष पैर पटके।
क्षिप्त पद पाय! एक ऋषि को जो जा लगा,
सातों ऋषियों में महा क्षोभानल आ जगा।

"भार वहें बातें सुनें लातें भी सहें क्या हम?
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम?
पैर था या साँप यह, डँस गया संग ही,
पामर पतित हो तू होकर भुजंग ही!"

राजा हत-तेज हुआ, शाप सुनते ही कॉप
पीकर जगा गया हो, जैसे उसे पीना सॉप
श्वास टूटने-सी मुख-मुद्रा हुई विकला
हाय ! यह हुआ क्या ? यही व्यग्र वाक्य निकला।

जड-सा सचिन्त वह नीचा सिर करके,
पालकी का नाल, डूबते का तृण धरके,
शून्य-पट-चित्र हुआ घुलता-सा वृष्टि से,
देखा फिर उसने समक्ष शून्य दृष्टि से।

दीख पडा उसको न जाने क्या समीप-सा,
चौंका एक साथ वह बुझता प्रदीप-सा—
'सकट तो सकट, परन्तु यह भय क्या ?
दूसरा सृजन नहीं मेरा एक लय क्या ?"

सम्हला अदम्य मानी खींच कर ढीले अग—
"कुछ नही, स्वप्न था सो हो गया भला ही भग।
कठिन कठोर सत्य ! तो भी शिरोधार्य है,
शान्त हो महर्षि, मुझे शाप अगीकार्य है।

दु ख मे भी राजा मुसकाया पूर्व दर्प से—
"मानते हो तुम अपने को डॅसा सर्प से।
होते ही परन्तु पद-स्पर्श भूल चूक से,
मै भी क्या डॅसा नहीं गया हूॅ दन्दशूक से ?

मानता हूँ भूल हुई, खेद मुझे इसका,
सौंपे वही कार्य उसे धार्य हो जो जिसका।
स्वर्ग से पतन, किन्तु गोत्रिणी की गोद में,
और जिस जोन में जो, सो उसी में मोद में।

काल गतिशील, मुझे ले के नहीं बैठेगा;
किन्तु इस जीवन में विष घुस पैठेगा।
तो भी खोजने का कुछ कष्ट जो उठावेंगे।
विष में भी अमृत छिपा वे कृती पावेंगे।

मानता हूँ, आड़ ही ली मैंने स्वाधिकार की.
मूल में तो प्रेरणा थी काम के विकार की।
माँगता हूँ आज मैं शची से भी खुली क्षमा,
विधि से बहिर्गता भी साध्वी वह ज्यों रमा।

मानता हूँ, भूल गया नारद का कहना—
"दैत्यों से बचाये यह भोग-धाम रहना।"
आ घुसा असुर हाय! मेरे ही हृदय में,
मानता हूँ आप लज्जा पाप-अविनय में।

मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया स्वर्ग भी,
ले के दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी

तन जिसका हो, मन और आत्मा मेरा है,
चिन्ता नहीं बाहर उजेला या अँधेरा है।
चलना मुझे है, बस अन्त तक चलना,
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सम्हलना।

गिरना क्या उसका उठा ही जो नहीं कभी ?
मै ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मै,
नर हूँ, पुरुष हूँ मै चढ़ के रहूँगा मैं।

चाहे जहाँ मेरे उठने के लिए ठौर है,
किन्तु लिया आज मैंने भार कुछ और है।
उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।

(नहुष से)

कुणाल गीत

(१)

अरी भावती; भामिनी !
मेरी कांचन - कामिनी !
हो जा अब तो अग्रगामिनी ,
रही बहुत अनुगामिनी !
अभी भावती भामिनी !

भोजन में मातृत्व दिखा कर ,
भगिनी सी शुभ सीख सिखा कर ,
रही सेविका नाम लिखा कर
लिख लूँ अब तो स्वामिनी ?
अरी भावती, भामिनी !

तुझ में मेरा सारा जग है ,
मेरे पग हैं, तेरा मग है।
चन्द्रमुखी किससे जगजग है
मेरी यह चिर यामिनी ?
अरी भावती, भामिनी !

(२)

सगिनि, तू फिर सिसकी !

कहाँ रहें, क्या करें आज हम,
बृथा भावना इसकी।

जाग, सँभाल तनिक अपने को,
जाने दे अब उस सपने को।

हटा हाथ से वे निज अलकें,
जो पलको पर खिसकी!
सगिनि, तू फिर सिसकी!

हुई धूप भी मुझको छाया,
गई आप ही मिथ्या माया।

आज हमारी चिन्ता सब को,
हमे नहीं जिस - तिसकी!
संगिनि! तू फिर सिसकी!

हम मे कुछ छल-छिद्र नहीं है,
सदय स्वदेश दरिद्र नहीं है।

बहुधा विपुल, समाज सुसस्कृत,
कह फिर बाधा किसकी?
संगिनि! तू फिर सिसकी!

अब क्या हम सुख से न रहेंगे ?
सब की सुन अपनी न कहेंगे ?
भिक्षुक भी राजा हूँगा मैं,
तुझ सी रानी जिसकी।
संगिनि ! तू फिर सिसकी !

हम बाहर हों अथवा घर में,
अपना धन है अपने कर में।
आ, हँस कर ही करें उपेक्षा,
निठुर नियति की रिस की।
संगिनि, तू फिर सिसकी !

श्री मैथिलीशरण गुप्त के ग्रन्थ

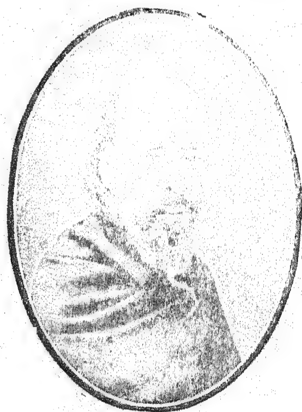
काव्य-ग्रन्थ—रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत भारती, शकुन्तला, किसान, पत्रावली, वैतालिक, स्वदेश-संगीत, पंचवटी, हिन्दू, त्रिपथगा, गुरुकुल, शक्ति, वन-वैभव, साकेत, द्वापर, सिद्धराज, विकट भट, झंकार, यशोधरा, मंगल घट, नहुष, कुणाल गीत, अर्जन और विसर्जन, विश्व-वेदना तथा काबा और कर्बला।

नाटक—तिलोत्तमा, चन्द्रहास, अनघ।

अनुवाद—मेघनाद वध, वीरांगना, विरहिणी-ब्रजांगना, पलासी का युद्ध, उमरख़ैयाम।

श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय

श्री उपाध्याय जी आधुनिक काल के सबसे पुराने कवि हैं। सम्वत् १६६५ मे उन्हे प्रिय-प्रवास ग्रन्थ पर मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था और अब सम्वत् २००१ मे हिन्दुस्तानी एकेडमी, युक्त प्रान्त ने उन्हे 'वैदेही बनवास' पर ५००) से पुरस्कृत किया। उपाध्याय जी ने द्विवेदी काल मे ही अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे दिया था। इनका 'प्रिय-प्रवास' ग्रन्थ तो युग-प्रवर्त्तक ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। यह खड़ी बोली मे प्रथम अतुकान्त महाकाव्य है। इससे इनके काव्य-ज्ञान तथा इनकी भाषा का पूर्ण परिचय मिलता है। 'प्रिय प्रवास' की विस्तृत भूमिका मे इन्होंने अपने काव्य-सिद्धान्तो के विषय में अच्छी विवेचना की है। 'प्रिय-प्रवास' की विशेषता भाव-सौन्दर्य और चरित्र-चित्रण मे है।



जहाँ उपाध्याय जी ने 'प्रिय-प्रवास' मे अपनी परिष्कृत और सस्कृत शैली का परिचय दिया है, वहाँ उन्होंने 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे' और 'चोखे-चौपदे' में अपनी सरल, स्वाभाविक और बोल-चाल की मुहाविरे-

दार भाषा मे काव्य-रचना की है। इनकी इस प्रकार की कविताओं मे जीवन की अनेक प्रवृत्तियो का निरूपण, सरल भाषा मे अच्छी तरह किया गया है। यद्यपि कविता मे कहीं-कहीं मुहाविरों के प्रयोग से भावों के चित्रण पर आघात पहुँचा है, तथापि भाषा की स्वाभाविकता अक्षुण्ण है।

द्विवेदी काल मे ब्रजभाषा का भी साहित्य में अच्छा प्रयोग हुआ। उपाध्याय जी ने उस प्रवृत्ति का परिचय अपने 'रस कलश' नामक ग्रन्थ मे दिया है। इस ग्रन्थ मे शृगार रस की विशेष अच्छी कविता है और ब्रजभाषा के साहचर्य से तो शृगार रस मे और भी अधिक माधुर्य आ गया है।

कविता के सिवाय उपाध्याय जी ने गद्य रचनाऍ भी की हैं। इनसे पहले इशा की 'रानी केतकी की कहानी' ठेठ हिन्दी मे पहली और अन्तिम कहानी थी। उपाध्याय जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अध-खिला फूल' लिख कर इशा के आदर्शों मे और भी वृद्धि की। 'ठेठ हिन्दी' का गद्य इन दोनों पुस्तकों मे बहुत अच्छी तरह से प्रयुक्त किया गया है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' या 'देवबाला' मे तो भाषा के साथ-साथ कथा का भी अच्छा निर्वाह किया गया है।

उपाध्याय जी हमारी कविता के आचार्य हैं। सम्वत् १९९१ मे आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा ने उनकी ७० वीं वर्ष-गॉठ पर उन्हे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया था।

———

प्रिय-प्रवास

आयी बेला हरि-गगन की छा गयी खिन्नता सी
थोड़े ऊँचे नलिनपति जा छिपे पादपो मे,
आगे सारे स्वजन करके, साथ अक्रूर को ले
धीरे-धीरे स-जनक कढे सद्म में से मुरारी,

आते आँसू अति कठिनता साथ रोके दृगो के
होती खिन्ना हृदय-तल के सैकड़ो सशयो से,
नाना बामा परम दुखिता, संग शोकाभिभूता
पीछे प्यारे तनय, निकली गेह मे से यशोदा।

द्वारे आया व्रज-नृपति को देख यात्रा लिये ही,
भोला भाला निरख मुखड़ा फूल से लाडिलो का,
खिन्ना दीना परम लख के नन्द की भामिनी का,
चिन्ता-डूबी सकल जनता, हो उठी कम्पमाना।

कोई रोया, नहि जल रुका लाख रोके दृगो का,
कोई आहें सदुख भरता, हो गया बावला-सा,
कोई बोला, 'सकल व्रज के जीवनाधार प्यारे,
यों लोगों को व्यथित करके आज जाते कहाँ हो ?'

रोता, होता विकल अति ही एक आभीर बूढ़ा,
दीनों के से बचन करता पास अक्रूर आया,
बोला—'कोई जतन जन को आप ऐसा बतावे,
मेरे प्यारे कुँवर मुझ से आज न्यारे न होवे।"

"मै बूढ़ा हूँ यदि कुछ कृपा आप चाहें दिखाना,
तो मेरी है विनय इतनी स्याम को छोड़ जावें।
हा! हा! सारी व्रज-अवनि का प्राण है लाल मेरा,
क्यो जीयेंगे हम सब उसे आप ले जायँगे जो?"

"रत्नो की है नहिं कुछ कमी आप ले रत्न ढेरों,
सोना-चाँदी सहित धन भी गाड़ियो आप ले ले।
गाये ले ले, गज तुरँग भी आप ले लें अनेको,
लेवें मेरे न निजधन को जोड़ता हाथ मैं हूँ।"

"जो है प्यारी धरनि व्रज की यामिनी के समाना,
तो तातो के सहित, सिगरे गोप हैं तारको से,
मेरा प्यारा कुँवर उसका एक ही चन्द्रमा है,
छा जावेगा तिमिर, वह जो दूर होगा दृगों के।"

'सच्चा प्यारा सकल व्रज का, वश का है उजाला,
दीनो का है परमधन, और वृद्ध का नेत्र-तारा,
बालाओ का प्रिय स्वजन, और बन्धु है बालको का,
ले जाते है सु-रतन कहाँ, आप ऐसा हमारा।"

बूढ़े के ये वचन सुनके नेत्र मे नीर आया,
'आँसू रोके परम मृदुता साथ अक्रूर बोले—
क्यो होते हैं दुखित इतने मानिये बात मेरी,
आ जावेगे विवि दिवस मे आपके लाल दोनो।"

आयी प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा-प्रवीणा,
हाथो से छू कमल-मुख को प्यार से लीं बलाये।
पीछे बोली दुखित स्वर से, "तू कहीं जा न बेटा,
तेरी माता अहह, कितनी बावली हो रही है।"

"जो रूठेगा नृपति, ब्रज का वास ही छोड दूँगी,
ऊँचे-ऊँचे भवन तज के जगलो मे बसूँगी,
खाऊँगी फूल-फल-दल को व्यंजनो को तजूँगी,
मैं आँखो से अलग न तुझे लाल मेरे करूँगी।"

"जाओगे क्या कुँवर मथुरा? कस का क्या ठिकाना?
मेरा जी है बहुत डरता, क्या न जाने करेगा?
मानूँगी मै न, सुरपति का राज ले क्या करूँगी।"
तेरा प्यारा बदन लख के, स्वर्ग को मै तजूँगी।"

'जो लेवेगा नृपति मुझसे दड दूँगी करोड़ों,
लोटा-थाली सहित तन के वस्त्र भी बेच दूँगी,
जो माँगेगा हृदय वह तो, काढ़ दूँगी उसे भी,
बेटा! तेरा गमन मथुरा, मैं न आँखो लखूँगी।'

"कोई भी है न सुन सकता, जा किसे मैं सुनाऊँ ?
मै हूँ, मेरा हृदय-तल है, और व्यथा हैं अनेको,
बेटा ! तेरा सरल मुखडा शान्ति देता मुझे है,
क्यो जीऊँगी कुँवर ! बतला जो चला जायगा तू ?"

"प्यारे तेरा गमन सुन के, दूसरे रो रहे हैं,
मै रोती हूँ, सकल ब्रज है वारि लाता दृगों मे,
सोचो बेटा ! उस जननि की क्या दशा आज होगी ?
तेरा जैसा सरल जिसका एक ही लाडिला है।"

प्राचीना की स-दुख सुन के, बात सारी मुरारी,
दोनो आँखे सजल करके प्यार के साथ बोले—
"मै आऊँगा कुछ दिन गये बाल होगा न बाँका,
क्यो माता तू, विकल इतना आज यो हो रही है ?"

दौडा ग्वाला ब्रज-नृपति के सामने एक आया,
बोला, "गायें सकल वन को आपकी है न जातीं,
दाँतो से है न तृण गहती है न बच्चे पिलातीं,
हा ! हा ! मेरी सुरभि, सबको आज क्या हो गया है।

"देखो ! देखो ! सकल हरि की ओर ही आ रही है,
रोके भी है वह न रुकतीं, बावली हो गयी हैं,"
यो ही बाते सदुख कहते फूट के ग्वाल रोया,
बोला, 'मेरे कुँवर सब को यो रुला के न जाओ।"

रोता ही था अहिर, तब लौं नन्द की सर्व गाये,
दौडी आर्यीं निकट हरि पूँछ ऊँची उठाये
खिन्ना, दीना, विपुल, वह थी, वारि था नेत्र लाता,
ऊँची आँखो कमल-मुख थीं देखतीं, शकिता हो।

काकातूआ महर गृह के द्वार का भी दुखी था,
भूला जाता सकल स्वर था, उन्मना हो रहा था,
चिल्लाता था, अति विकल था औ यही बोलता था,
"यो लोगो को व्यथित करके लाल जाते कहाँ हो ?"

पक्षी की औ सुरभि सब की, देख ऐसी दशाएँ,
थोडी जो थी, अहह ! वह भी, धीरता दूर भागी,
हा ! हा ! शब्दो सहित इतना फूट के लोग रोये,
हो जाती थी निरख जिसको भग्न छाती शिला की।

आवेगो के सहित बढ़ते देख सन्ताप नाना,
धीरे-धीरे ब्रज-नृपति से खिन्न अक्रूर बोले—
'देखी जाती नही ब्रज-व्यथा, शोक है वृद्धि पाता,
आज्ञा दीजे, जननि पग छू, यान पै श्याम बैठे।"

आज्ञा पा के निज जनक की, मान अक्रूर बाते,
जेठे भ्राता सहित, जननी पास गोपाल आये,
छू माता के कमल पग को, धीरता साथ बोले,
"जो आज्ञा हो जननि अब, तो यान पै बैठ जाऊँ।"

दोनों प्यारे कुँवर-वर के यो विदा माँगते ही,
रोके आँसू जननि-दृग मे, एक ही साथ आये,
धीरे बोलीं, परम दुख से, "जीवनाधार जाओ,
दोनो भैया, मुख-शशि हमे लौट आके दिखाओ"

"धीरे-धीरे सु-पवन बहे, स्निग्ध हो अंशुमाली,
प्यारी छाया विटप बितरें, शान्ति फैले बनो मे,
बाधाएँ हों शमन, पथ की दूर हों आपदाएँ,
यात्रा तेरी सफल सुत हो, छेम से सद्म आओ।"

लेके माता-चरण-रज को श्याम और राम दोनो,
आये विप्रो निकट उनके पाँव की बन्दना की;
भाई-बन्दो सहित मिल के हाथ जोड़ा बड़ो को,
पीछे बैठे विशद रथ मे, बोध दे के सबो को,

दोनों प्यारे निज कुँवर को, यान पै देख बैठा,
आवेगो से विवश अति ही हो उठीं नन्दरानी,
आँसू डूबे, युगल दृग से, वारि-धारा बहा के,
बोली दीना सदृश वह यो, दग्ध हो हो पती से—

अहह ! दिवस ऐसा हाय ! क्यो आज आया ?
निज प्रिय सुत से जो मैं जुदा हो रही हूँ,
अगणित गुणवाली प्राण से नाथ प्यारी,
यह अनुपम थाती मै तुम्हें सौंपती हूँ।

सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही,
नहि कुँवर कहीं भी आज लौं हैं सिधारे,
मधुर फल खिलाना, दृश्य नाना दिखाना
कुछ पथ दुख मेरे बालकों को न होवे,

खर पवन सतावे लाड़िलों को न मेरे,
दिनकर-किरणों की ताप से भी बचाना,
यदि उचित जँचे तो छाँह मे भी बिठाना,
मुख सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे,

विमल जल मँगाना, देख प्यासा, पिलाना,
कुछ छुधित हुए ही, व्यजनों को खिलाना,
दिन बदन सुतों का देखते ही बिताना,
प्रफुल्लित अधरों को सूखने भी न देना,

युग तुरग सजीले वायु से वेग वाले,
अति अधिक न दौड़ें यान धीरे चलाना,
बहु हिल कर हा! हा! कष्ट कोई न देवे,
परम मृदुल मेरे बालकों का कलेजा,

सकल नगर मे ही बाम ऐसी मिलेगी,
सब नहिं जिनकी हैं बामता बूझ पाते,
सकल समय ऐसी साँपिनों से बचाना,
वह निकट हमारे लाड़िलों के न आवें;

"जब नगर दिखाने के लिए नाथ, जाना,
निज सरल कुमारो को खलो से बचाना
सँग-सँग रखना और साथ ही गेह लाना,
छन सुअन दृगो से दूर होने न पावें,

"धनुष-मख सभा में देख मेरे सुतो को,
तनक भृकुटि टेढ़ी नाथ जो कस की हो,
अवसर लख ऐसे यत्न तो सोच लेना,
न कुपित नृप होवे, और बचे लाल मेरे।

'यदि विधिवश सोचा भूप ने और ही हो,
यह विनय बड़ी ही दीनता से सुनाना—
हम बस न सकेंगे, जो हुई दृष्टि मैली,
युग सुअन यही है जीवनाधार मेरे।

"लख कर मुख सूखा, सूखता है कलेजा,
उर बिच बलती है आग देखे दुखो के,
शिर पर सुत के जो आपदा नाथ आयी,
यह अवनि फटेगी औ समा जाऊँगी मैं,

"जग कर कितनी ही रात मैंने बितायी,
यदि तनक कुमारो को हुई बेकली थी,
यह हृदय हमारा भग्न कैसे न होगा?
यदि कुछ दुख होगा बालको को हमारे।

"बहु निशि नहि मैंने शीत को शीत जाना,
थरथर कँपती थी औ लिये अक मे थी,
यदि सुखित न यो भी देखती लाल को थी,
सब रजनि खड़े औ घूमते थी बिताती।

'निज सुख अपने, मैं ध्यान मे भी न लायी,
प्रिय सुत सुख ही से मै सुखी आज लौं हूँ,
मुख तक कुम्हलाया नाथ, मैंने न देखा,
अहह! दुखित कैसे लाडिले को लखूँगी?

'यह समझ रही हूँ, और हूँ जानती भी,
हृदय-धन तुम्हारा भी यही लाड़िला है,
पर विवश हुई हूँ जी नहीं मानता है,
यह विनय इसी से नाथ, मैंने सुनायी।

"अब अधिक नहीं मै भाखना चाहती हूँ,
अनुचित मुझसे है नाथ, होता बड़ा ही,
निज युग कर जोड़े ईश से हूँ मनाती,
सकुशल गृह लौटे आप ले लाडिलो को!"

आँख

पाँवड़े कैसे न पलको के पडे ?
जोत के सारे सहारे हो तुम्हीं।
आँख मे, बस आँख मे, हो घूमते ,
आँख के तारे हमारे हो तुम्हीं।

देखने वाली न आँखे हो मगर,
देखने का है उन्हें चसका बडा।
आप परदा किसलिए हैं कर रहे ?
हो भले ही आँख पर परदा पडा।

जान कर भी जानते जिसको नहीं,
क्यो उसी के जानने का दम भरे ?
आपही क्यों आँख अपनी ले कुचो ?
क्यो किसी की आँख मे उँगली करे ?

देख कर, आँख देख ले जिनको,
वे बनाये गये नहीं वैसे,
आँख मे जो ठहर नहीं सकता,
आँख उस पर ठहर सके कैसे ?

राह पर साथ राहियो के चल,
साहबी आँख से उसे देखें,
आँख की साख जो कहाती है,
हम उसी आँख से उसे देखें।

जोत न्यारी तो नहीं दिखला पड़ी ,
आँख मे क्यो ज्ञान के दीये बलें ?
आँख मे अजन अनूठा ले लगा ,
हम जमाये आँख या आँखे मलें ?

है जहाँ मे कहाँ न जादूगर ?
पर दिखाया न, देखते ही हो ,
भूल जादूगरी गई सारी ,
आँख जादू भरी भले ही हो।

है जहाँ आँख पड नहीं सकती ,
आँख मेरी वहाँ न पायी जम ,
जग पसारा न लख सके सारा ,
आँख हमने नहीं पसारा कम।

[नोलचाल से]

—.○—

बेचारा बाप

भाग पलटे पलट गया वह भी ,
बा-समझ औ बहुत भला जो था ,
आज वह सामना लगा करने ,
आँख के सामने पला जो था।

प्यार का प्याला पिला पाला जिसे,
हाथ से उसके बहुत से दुख सहे,
कर रहा है छेद छाती मे वही,
हम जिसे छाती तले रखते रहे।

मानते जिसको बहुत ही हम रहे,
मानता है क्या न वह मेरा कहा ?
किसलिए वह मूँग छाती पर दले ?
जो सदा छाती तले मेरी रहा।

क्यो वही है आँख का काँटा हुआ,
आँख जिसको देख सुख पाती रही ?
जी हमारा क्यो जलाता है वही,
पा जिसे छाती जुड़ा जाती रही ?

बावला हो जाय जी कैसे नही !
आँख से कैसे न जल-धारा बहे !
है कलेजे मे छुरी वह मारता !
हम कलेजे मे जिसे रखते रहे !

फूल से हम न जिसे मार सके,
है वही आज भोकता भाला,
आह ! है खा रहा कलेजा वह,
है कलेजा खिला जिसे पाला।

क्यो कलेजा न प्यार का दहले ?
ले कलेजा पकड़ न क्यो नेकी ?
बाप के मोम से कलेजे को,
दे कुचल कोर जो कलेजे की।

किरकिरी वह आँख की जाये न बन,
जो हमारी आँख का तारा रहा,
कर न दे टुकड़े कलेजे के वही,
है जिसे टुकड़ा कलेजे का कहा।

सुख अगर दे हमे नही सकता,
तो रखे लाज दुख अँगेजे की,
वह फिरे देखता न कोर कसर,
कोर है जो मेरे कलेजे की।

दूसरा क्या सपूत करता है,
किस तरह मुँह न मोड़ लेवे वह ?
पीठ पर ही उसे फिरे लादे,
पीठ कैसे न तोड देवे वह ?

[चोखे चौपदे से]

समय का फेर

धन विभव की बात क्या जिनके बड़े,
रज बराबर थे समझते राज को,
है तरस आता उन्हीं के लाडले,
हैं तरसते एक मूठी नाज को !

क्या दिनो का फेर हम इसको कहें ?
या कि है दिखला रही रंगत विपत ?
थी कभी हमसे नहीं जिनकी चली,
आज दिन वे ही चलाते हैं चपल।

बेर खा वे बिता रहे हैं दिन,
जो रहे धन-कुबेर कहलाते,
अन्न से घर भरा रहा जिनका,
आज वे पेट भर नहीं पाते !

चाव से चुगते जहाँ मोती रहे,
हस, तज कर मानसर आये हुए,
पोच दुख से आज वाँ के जन पचक,
फिर रहे हैं पेट पचकाये हुए।

जो सुखो की गोदियो के लाल थे,
दिन ब दिन वे हैं दुखो से घिर रहे
जो रहे अकडे जगत के सामने,
आज वे हैं पेट पकडे फिर रहे !

बॉटते जो जहान को, उनको
सुध रही बाट बॉटने ही की,
पाटते जो समुद्र थे उनको
है पडी पेट पाटने ही की !

पेट जिनसे चीटियो तक का पला,
जा सके जिनके नहीं जाचक गिने,
कट रहे है पेट के काटे गये,
लट रहे है कौर वे मुँह का छिने !

दूध पीने को उन्हें मिलता नहीं,
जो सहित परिवार पीते घी रहे,
अब किसी का पेट भर पाता नही,
लोग आधा पेट खा, हैं जी रहे।

पेट भर अब अन्न मिलता है कहाँ ?
हैं कहॉ अब डालियॉ फल से लदी ?
बह रहा है सोत दुख का अब वहॉ,
थी जहॉ घी दूध की बहती नदी।

छिन गया आज कौर मुँह का है,
गाय देती न दूध है दूहे,
है बुरा हाल भूख से मेरा,
पेट मे कूद है रहे चूहे।

बात बिगडे नही किसी की यो,
मरतबा यो न हो किसी का कम,
पॉव मेरे जहान पडता था,
दुख पड़े, पॉव पड़ रहे हैं हम।

आज वे है जान के गाहक बने,
मुँह हमारा देख जो जीते रहे,
हाथ धो वे आज पीछे हैं पडे,
जो हमारा पॉव धो पीते रहे।

छू जिन्हें मैल दूर होता था,
आज वे हो गये बहुत मैले,
वे नहीं आज फैलते घर मे,
पॉव जो थे जहान मे फैले।

बेतरह क्यो न दिल रहे मलता,
दुख दुखी चित्त किस तरह हो कम ?
लोटते पॉव के तले जो थे,
पॉव उनका पलोटते है हम।

गालियाँ हैं आज उनको मिल रहीं,
गीत जिनका देवता थे गा रहे,
पाँव जिनके प्रेम से पुजते रहे,
पाँव की वे ठोकरें हैं खा रहे।

अब वहाँ छल की, कपट की फूट की,
नटखटी की है रही फहरा धुजा,
पापियो का पाप मन का मैल धो,
है जहाँ पर पाँव का धोअन पुजा।

आज वे पाले दुखो के है पड़े,
जो सदा सुख-पालने मे ही पले,
सेज पर जो फूल की थे लेटते,
वे रहे है लेट तलवो के तले।

[चुभते चौपदे से]

भाव-भक्ति

पादप के पत्ते हैं प्रताप के पताके हरे,
क्यारियाँ सुमन की सुमनता सँवारी हैं,
तेरे अनुराग राग ही से रंजित है उषा,
नाना रवि तेरे तेज ही से तेजधारी हैं,

"हरिऔध" तेरे रग ही मे रजनी है रँगी,
बिधु की कलाएँ कर-कज की सुधारी हैं,
महा प्रभावान पूत नख की प्रभा से लसे,
सारे नभ तारे तेरे पग के पुजारी हैं।

सेमल को लाल-लाल सुमन मिले है कहाँ?
पीले-पीले पुष्प दिये किसने बबूलो को?
तुली तूलिकाएँ ले-ले कैसे साजता है कौन,
सुललित लतिका के कलित दुकूलो को?

'हरिऔध' किसके खिलाये कलिकाएँ खिलीं,
दे-दे दान मजुल मरन्द अनुकूलो को,
किससे रँगीली साडियाँ है तितली को मिली,
कौन रँगरेज रँगता है इन फूलो को?

किसके करो से है धवलिमा निराली मिली,
किसके धुलाये है धवल फूल धुलते?
किसके कहे से ओस-बिन्दु सुमनावली के,
मोह कर मानस है मोतियो से तुलते?

'हरिऔध' किसके सहारे से समीर द्वारा,
मजुल मही मे है मरन्द भार ढुलते,
किसके लुभाने के बहाने मनमाने कर,
रात मे खजाने रत्न-राजि के हैं खुलते

झर-झर झरने, उल्लाल वारि विन्दुओं को,
अंक किसका है मजु मोतियो से भरते ?
पादप के पत्ते हिल-मिल है रिझाते किसे,
खिल खिल फूल क्यो सुगन्ध हैं बितरते ?

'हरिऔध' किसी ने न इसका बताया भेद,
सकल फबीले फल क्यो हैं मन हरते ?
बजते बधावे क्यो उमग भरे भृङ्ग के है,
क्यो हैं रग-रग के विहंग गान करते ?

कामना-कलित-कलिका को है खिलाता कौन,
मधु है मिलाता कौन मानस-हिलोरे मे ?
कौन है विलसाता सरस वासना के मध्य,
रस भरता है कौन प्रमद कमोरे मे ?

'हरिऔध' लालायित होती है ललक काहे,
कौन लासता है लोक लालसा के कोरे मे ?
कौन लाभ हुआ लोने-लोने लोचनो के मिले,
जो न लाली लाल की दिखायी लाल डोरे मे ?

लगन लगे भी लालसाएँ जो ललाती रही,
कैसे तो न लोक-काल लोलुपो को टोकेंगे ?
वसुधा विकासिनी विभूति विरहित जन,
सुधा के प्रवाह कैसे मानस मे रोकेंगे ?

'हरिऔध' कैसे कान्त कामना विहीन कर,
मनु जात जीवन महान फल लोकेंगे ?
जो न बने मानस मुकुर मल मोचन, तो
कैसे लोक-लोचन को लोचन बिलोकेंगे ?

किस लोक मजु की महान मजुता से रीझ,
महँक रही है वायु महँक अधिक ले,
किस मधु सिन्धु को सुनाता है मधुप गान ?
अति कमनीय तान मधुप रसिक ले ?

'हरिऔध' कूक-कूक किसे है बनाता मुग्ध,
रुचिर रसाल मजरी का रस पिक ले ?
किसे अवलोके फूल खिलते अघाते नही,
किसके बिलोके कुन्द के है दाँत निकले ?

जिसकी पुनीत भावना मे उर लीन रहे,
क्या न वह भाव भरी मुरली बजायेगे ?
क्या न रोम-रोम मे भरेंगे तमहारी तेज,
क्या न भीत जन को अभीत कर पायेगे ?

'हरिऔध' जिसकी सजीवता सजीवन है,
लोग जाग जिससे जगत को जगायेगे,
क्या न वह गान फिर गायेगे कृपानिधान,
क्या न वह मजु तान कान को सुनायेगे ?

किसे लाभकर महि महिमामयी है हुई,
किसकी पुनीत केलि कीर्ति कलसी-सी है ?
मानवता किसकी महान मति से है लसी,
दानवता किस के पदों से गयी पीसी है ?

'हरिऔध' ऐसी पति देवता कहाँ है मिली,
किसकी प्रतीति प्रीति प्रगति सती सी है ?
कौन पाप पीन जन पातक निकन्दिनी है,
कौन जग वन्दिनी जनक नन्दिनी-सी है ?

[कल्पलता से]

स्वर्ग

शार्दूल-विक्रीडित

है ऐरावत-सा गजेन्द्र न कहीं है, कौन देवेन्द्र-सा।
है कान्ता न शची समान अपरा देवापगा हैं कहाँ।
श्री जैसी गिरिजा गिरा सम नहीं देखी कहीं देवियाँ।
पाई कल्पलतोपमा न लतिका, है स्वर्ग ही स्वर्ग-सा ॥१॥

शोभा-सकलिता नितान्त ललिता कान्ता कलालकृता।
लीला-लोल सदैव यौवनवती सद्वेश-वस्त्रावृता।
नाना गौरव-गर्विता गुणमयी उल्लासिता सस्कृता।
होती है दिव-दिव्यता-विलसिता स्वर्गाङ्गना सुन्दरी ॥२॥

शुद्धा सिद्धि विधायिनी अमरता आधारिता निर्जरा।
सारी आधि-उपाधि-व्याधि-रहिता बाधादि से वर्जिता।
कान्ता कान्ति-निकेतनातिसरसा दिव्या सुधासिंचिता।
नाना भूति विभूति मूर्त्ति महती है स्वर्ग स्वर्गीयता ॥३॥

जो होती न विराजमान उसमे दिव्यांग देवांगना।
जो देते न उसे प्रभूत विभुता देवेश या देवते।
नाना दिव्य गुणावली-सदन जो होती नहीं स्वर्गभू।
तो पाती न महान भूत्ति महती होती महत्ता नहीं ॥४॥

होते म्लान नही प्रसून, रहते उत्फुल्ल हैं सर्वदा।
पा के दिव्य हरीतिमा बिलसती है कान्त वृक्षावली।
पत्ते हैं परिणाम रम्य फल है होते सुधा के भरे।
है उद्यान न अन्य, स्वर्ण-अवनी के नन्दनोद्यान-सा ॥५॥

जो हो स्वस्थ शरीर, भाग्य जगता, पद्मासना की कृपा।
जो हो पुत्र विनीत, बुद्धि विमल, हो बधु मे बंधुता।
जो हो मानवता विवेक-सफला, हो सात्विकी वृत्तियॉ।
हो कान्ता मृदुभाषिणी अनुगता तो स्वर्ग है सद्म ही ॥६॥

होती है विकरालता जगत की जाते जहॉ कम्पिता।
आता काल नहीं समीप जिसके आरक्त आखे किये।
होता है भय आप भीत जिसकी निर्भीकता मूर्ति से।
जा पाते यमदूत हैं न जिसमे है स्वर्ग-सा स्वर्ग ही ॥७॥

होता क्रन्दन है नहीं, न मिलता है आर्त कोई कहीं।
हाहाकार हुआ कभी न, उसने आहें सुनी भी नहीं।
देखा दृष्य न मृत्यु का, न दव से दग्धा विलोकी चिता।
है आनद-निधान स्वर्ग-विभुता उत्फुल्लिता-मूर्त्ति है ॥८॥

गाती है वह गीत, पूत जिससे होती मनोवृत्ति है।
लेती है वह तान रीझ जिससे है रीझ जाती स्वय।
ऐसी है कलकठता कलित जो है मोहती विश्व को।
है सगीत सजीव मूर्त्ति दिवि को लोकोत्तरा अप्सरा ॥९॥

सारी मोहन-मत्र-सिद्धि स्वर मे, आलाप मे मुग्धता।
तालो मे लय मे महामधुरता, शब्दावली में सुधा।
भावो मे वर भावना सरसता उत्कठता कठ मे।
देती है भर भूतप्रीतिध्वनि मे गधर्व गधर्वता ॥१०॥

जागे सात्विक भाव भूति टलती हैं तामसी वृत्तियॉ।
देखे दिव्य दिवा-बिकास छिपती है भीतभूता तमा।
जाती है मिट ज्ञान भानु-कर से अज्ञान की कालिमा।
पाते हैं द्युति लोक दिवि की आलोकमाला मिले ॥११॥

पाते हैं बहुदीप्ति देवगण से दिव्यागना-वृन्द से।
होते झकृत हैं सदैव बजते वीणादि झकार से।
हो आरजित रत्न से बिलसते हैं मोहते लोक को।
आँखो में बसते सदा विहँसते आवास हैं स्वर्ग के ॥१२॥

हो-हो नृत्य कला निमग्न दिखला अत्यन्त तल्लीनता ।
पाँवो के वर नूपुरादि ध्वनि मे ससार को मोहती ।
ले-ले तान महान मजु रव से धारा सुधा की बहा ।
नाना भाव भरी परी सहित गा है नाचती किन्नरी ।।१३।।

नाना रोग वियोग-दुख-दल से जो द्वद्व से है बचा ।
सारी ऋद्धि प्रसिद्ध निधि पा जो भूति से है भरा ।
जो है मृत्यु-प्रपच-हीन जिसमे हैं जीवनी ज्योतियाँ ।
तो क्या है अपवर्ग-पुण्य बल से जो स्वर्ग ऐसा मिले ।।१ ।।

सारी ससृति है विभूति उसकी, है भूत-सत्ता वही ।
प्यारा है वह लोक लोकपति का है लोक प्यारा उसे ।
जो हो जाय अनन्यता जगत मे तो अन्यता है कहाँ ।
तो क्या है अपवर्ग-प्राप्ति-गरिमा, तो स्वर्ग ससर्ग क्या ।।१५।।

जो माने न उसे असार, समझे ससार की सारता ।
जो देखे तृण से त्रिदेव तक मे दिव्यांग की दिव्यता ।
जो आँखे अवलोक ले अखिल मे आत्मीयता का समा ।
जो मानव का हो महान मन तो क्या साहिबी स्वर्ग की ।।१६।।

[पारिजात से]

आश्रम में सीता

रघुकुल पुंगव ने पूरा गाना सुना।
धीर धुरंधर करुणा-वरुणालय बने॥
इसी समय कर पूजित-पग की वन्दना।
खड़े दिखाई दिये प्रिय अनुज सामने॥

कुछ आकुल कुछ तुष्ट कुछ अचिन्तित दशा।
देख सुमित्रा-सुत की प्रभुवर ने कहा॥
"तात! तुम्हें उत्फुल्ल नहीं हूँ देखता।
क्या मुझको अवलोक दृगों से जल बहा?

आश्रम में तो सकुशल पहुँच गई प्रिया?
वहाँ समादर स्वागत तो समुचित हुआ।
हैं मुनिराज प्रसन्न? शान्त है तपोवन।
नहीं कहीं पर तो है कुछ अनुचित हुआ?"

सविनय कहा सुमित्रा के प्रिय-सुअन ने।
"मुनि हैं मंगल-मूर्ति तपोवन पूततम॥
आर्य्या हैं स्वयमेव दिव्य देवियों सी।
आश्रम है सात्विक-निवास सुरलोक सम॥

वह है सद्व्यवहार - धाम सत्कृति-सदन
वहाँ कुशल है 'कार्य-कुशलता' सीखती ॥
भले - भाव सब फूले फले मिले वहाँ ।
भली - भावना - भूति भरी है दीखती ॥

किन्तु एक अति - पति - परायणा की दशा ।
उनकी मुख - मुद्रा उनकी मार्मिक व्यथा ॥
उनकी गोपन - भाव - भरित दुख - व्यंजना ।
उनकी बहु सयमन प्रयत्नो की कथा ॥

मुझे बनाती रहती है अब भी व्यथित ।
उसकी याद सताती है अब भी मुझे ॥
उन बातो को सोच न कब छलके नयन ।
आश्वासन देतीं कह जिन्हें कभी मुझे ॥

तपोभूमि का पूत वायुमण्डल मिले ।
मुनि-पुंगव के सात्विक पुण्य-प्रभाव से ॥
शान्ति बहुत कुछ आर्य्या को है मिल रही ।
तपस्विनी-गण सहृदयता सद्भाव से ॥

किन्तु पति - परायणता की जो मूर्त्ति है ।
पति ही जिसके जीवन का सर्वस्व है ॥
बिना सलिल की सफ़री वह होगी न क्यो ।
पति-वियोग मे जिसका विफल निजस्व है ॥"

सिय - प्रदत्त - सन्देश सुना सौमित्र ने।
कहा, "भरी है इनमे कितनी वेदना ॥
बात आपकी चले न कब दिल हिल गया।
कब न पति - रता आँखो से आँसू छना ॥

उनको है कर्त्तव्य ज्ञान वे आपकी—
कर्म - परायण हैं सच्ची सहधर्मिणी ॥
लोक - लाभ-मूलक प्रभु के सकल्प पर।
उत्सर्गी कृत होकर है कृति ऋण ऋणी ॥

फिर भी प्रभु की स्मृति, दर्शन की लालसा।
उन्हे बनाती रहती है व्यथिता अधिक।
यह स्वाभाविकता है उस सद्भाव की।
जो आजन्म रहा सतीत्व - पथ का पथिक ॥

जिसने अपनी वर-विभूति-विभुता दिखा।
रज समान लका के विभवो को गिना ॥
जिसके उस कर से जो दिव-बल-दीप्त था।
लकाधिप का विश्व-विदित-गौरव छिना ॥

कर प्रसून सा जिसने पावक पुज को।
दिखलाई अपनी अपूर्व तेजस्विता ॥
दानवता आतपता जिसकी शान्ति से।
बहुत दिनो तक बनती रही शरद सिता ॥

बडे अपावन भाव परम पावन बने।
जिसकी पावनता का करके सामना ॥
चौदह वत्सर तक जिसकी धृति-शक्ति से।
बहु दुर्गम वन अति सुन्दर उपवन बना ॥

इष्ट-सिद्धि होगी उसका ही बल मिले।
सफल बनेगी कठिन से कठिन साधना ॥
भव-हित होगा भय-विहीन होगी धरा।
होवेगी लोकोत्तर लोकाराधना ॥

यह निश्चित है पर आर्य्या की वेदना।
जितनी है दुस्सह उसको कैसे कहूँ ॥
वे है महिमामयी सहन कर ले व्यथा।
उन्हे व्यथा है, इसको मे कैसे सहूँ ॥

कुलपति आश्रम-गमन किसे प्रिय है नही।
इस मागलिक-विधान से मुदित है सभी ॥
पर न आज है राज-भवन ही श्री-रहित।
सूना है हो गया अवध सा नगर भी ॥

मुनि-आश्रम के वास का अनिश्चित समय।
किसे बनाता है नितान्त चिन्तित नहीं ॥
माताये यदि व्यथित है वधुओ-सहित।
पौर जनो का भी तो स्थिर है चित नहीं ॥

मुझे देख सब के मुख पर यह प्रश्न था।
कब आयेगी पुण्यमयी महि-नन्दिनी॥
अवध पुरी फिर कब होगी आलोकिता।
फिर कब दर्शन देगी कलुष-निकन्दिनी॥

प्रायः आर्य्या जाती थीं प्रात समय।
पावन-सलिला सरयू सरिता तीर पर॥
और वहाँ थी दान पुण्य करती बहुत।
वारिद-सम वर-वारि-विभव की वृष्टि कर॥

समय समय पर देव-मन्दिरों में पहुँच।
होती थी देवी समान वे पूजिता॥
सकल-न्यूनताओं की करके पूर्त्तियाँ।
सत्प्रवृत्ति को रही बनाती ऊर्जिता॥

वे निज प्रिय-रथ पर चढ़ कर सध्या-समय।
अटन के लिये जब थीं बाहर निकलती॥
तब खुलते कितने लोगों के भाग्य थे।
उन्नति में थी बहु-जन अवनति बदलती॥

राज-भवन से जब चलती थीं उस समय।
रहते उनके साथ विपुल-सामान थे॥
जिनसे मिलता आर्त्त-जनों को त्राण था।
बहुत अकिञ्चन बनते कञ्चनवान थे॥

दक्ष दासियाँ जितनी रहती साथ थीं।
वे जनता-हित-साधन की आधार थीं॥
मिले पथ मे किसी रुग्न विकलाग के।
करती उनके लिये उचित उपचार थीं॥

इसी लिये उनके अभाव मे आज दिन।
नहीं नगर मे ही दुख की धारा बही॥
उदासीनता है कह रही उदास हो।
राज भवन भी रहा न राज-भवन वही॥

आर्य्या की प्रिय-सेविका सुकृतिवती ने।
अभी गान जो गाया है उद्विग्न बन॥
अहह भरा है उसमे कितना करुण-रस।
वह है राज-भवन दुख का * विकल-कथन॥

गृहजन परिजन पुरजन की तो बात क्या।
रथ के घोड़े व्याकुल है अब तक बड़े॥
पहले तो आश्रम को रहे न छोड़ते।
चले चलाये तो पथ मे प्राय अड़े॥

घुमा घुमा शिर रहे रिक्त रथ देखते।
थे निराश नयनो से आँसू ढालते॥
बार बार हिनहिना प्रकट करते व्यथा।
चौंक चौक कर पाँव कभी थे डालते॥

आर्य्या कोमलता ममता की मूर्ति है।
है सद्भाव-रता उदारता पूरिता॥
है लोकाराधन-निधि-शुचिता-सुरसरी।
है मानवता राका-रजनी की सिता॥

फिर कैसे होती न लोक मे पूजिता।
क्यो न अदर्शन उनका जनता को खले?
किन्तु हुई निर्विघ्न मांगलिक क्रिया है।
हित होता है पहुँचे सुर पादप तले॥

[वैदेही बनवास से]

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के ग्रन्थ

पद्य—प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बुप्रवाह, प्रेमाम्बु प्रस्रवण, प्रेमप्रपंच, प्रेम पुष्पोपहार, काव्योपवन, ऋतु मुकुर।

प्रिय प्रवास, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, कल्पना, बोल-चाल, पद्य प्रसून, रस कलश, वैदेही वनवास, पारिजात।

गद्य—ठेठ हिन्दी का ठाट, अधखिला फूल।

अनूदित—वेनिस का बाँका

संग्रह—सरस संग्रह, कबीर वचनावली

श्री रामनरेश त्रिपाठी

श्री रामनरेश त्रिपाठी का व्यक्तित्व क्या है ? एक कवि, आलोचक, नाटककार उपन्यासकार, टीकाकार, कहानी लेखक, अनुवादक और सम्पादक।



द्विवेदी युग के प्रमुख साहित्यिकों में श्री रामनरेश त्रिपाठी का विशेष स्थान है, क्योंकि द्विवेदी जी की भाँति त्रिपाठी जी का भी स्थान कविता के अतिरिक्त साहित्य के अनेक अंगों पर गया और उन्होंने व्याकरण सम्मत गद्य और पद्य के मार्ग को परिष्कृत कर प्रशस्त किया। उन्होंने कविता, कहानी नाटक, उपन्यास और समालोचना आदि अंगो पर समान रूप से रचनाएँ करते हुए अनुवाद, सम्पादन और संग्रह कार्य भी किया। साथ ही साथ उन्होंने स्त्री साहित्य और बाल साहित्य के लिये भी अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया। रामचरित मानस की एक टीका लिखने का गौरव भी त्रिपाठी जी ने प्राप्त किया है। अत साहित्य के

जितने अगो पर त्रिपाठी जी ने रचना की है, उतने अगो पर हिन्दी साहित्य के किसी लेखक की लेखनी ने काम नही किया। इस क्षेत्र मे त्रिपाठी जी अद्वितीय है।

कविता क्षेत्र मे वे राष्ट्रीय हैं। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' मे स्वदेश-सेवा के ऊँचे आदशो का निरूपण है। कथा के पात्र किसी महात्मा से उपदेश सुन कर देश-भक्ति के लिए प्रोत्साहित होते हैं और अन्त मे अपने उद्देश्य की प्राप्ति करते है। यह देश की नवीन जाग्रति का ही परिणाम है कि त्रिपाठी जी देश-सेवा के लिए आत्मोत्सर्ग का आदर्श रखते हैं। प्रत्येक परिस्थिति मे एक सा आदर्श होने से विविध पात्रों की मनोवैज्ञानिक विवेचना मे सकीर्णता अवश्य आ गयी है, परन्तु कथा के मनोरजन मे कोई बाधा नही पडी।

त्रिपाठी जी की कविता सरल, स्पष्ट और व्याकरण के आदेशानुसार है। क्रिया रूप कभी छूटने नही पाये हैं और इसलिए उनके भाव सदैव स्पष्ट पाये जाते हैं। उनका कविता सग्रह 'मानसी' भाव-चित्रों से पूर्ण है और उसमें कल्पना का भी विशेष भाग है "मेरे करुणा-निधि का आसन गरम होगा, कौन जाने कब मेरे शीतल उसास से" मे कवि का व्यथित हृदय है।

त्रिपाठी जी प्रबन्ध अच्छा लिख सकते हैं। जहाँ कविता के क्षेत्र मे प्रबन्धात्मकता सफल हुई है, वहाँ कहानियो, उपन्यासो और नाटको के निर्माण मे भी त्रिपाठी जी को कथा-वस्तु की सफलता प्राप्त हुई है। त्रिपाठी जी की कथावस्तु मनोरजक और कौतूहलपूर्ण है। 'स्वप्नों के चित्र' में तो त्रिपाठी जी विनोदी भी हो गये हैं। त्रिपाठी जी के नाटक

जयन्त और प्रेमलोक—आदर्श की दृष्टि से अच्छे नाटक है। रगमच पर उनका अभिनय होना चाहिए।

'कविता कौमुदी' के पॉच भाग, 'ग्रामगीत' का सकलन हिन्दुस्तानी-कोष और मानस की टोका त्रिपाठी जी के अध्यवसाय पर प्रकाश डालने के लिए काफी हैं। 'तुलसादास और उनकी कविता' मे लेखक ने भक्त और विवेचक के विभिन्न व्यक्तित्व को एक करने की क्षमता प्रदर्शित की है।

एक ओर जहॉ श्री रामनरेश त्रिपाठी ने कवि और समालोचक बन कर साहित्य की अनुभूति और विवेचना की है, वहॉ दूसरी ओर उन्होंने हमारे बालको के सामने मीठी और चुरचुर कहानियॉ कह कर उनका मनोरजन भी किया है। श्री रामनरेश त्रिपाठी एक विचारक साहित्यकार हैं और उनके इसी गुण ने उनकी कविता भावना को घनीभूत होने का अवसर नहीं दिया। वे केवल कवि न होकर सम्पूर्ण साहित्यिक हैं।

———

पथिक का आत्म-चिन्तन

कुसुद बन्धु की मुदित कौमुदी भू पर उतर गगन से,
सोयी थी सिकता समूह पर परम अचिन्तित मन से,
बैठे हुए शिला पर, तन आगे की ओर झुकाये,
पथिक अचेतन, अचल, एकटक क्षिति पर दृष्टि गडाये-

था अति विकल निरीह, जुए मे मानो सब कुछ हारे,
पता नही था उसे छोड मुनि कब चुपचाप सिधारे।
मुनि के सच्चे वचन पथिक के प्रेम-विशुद्ध हृदय मे,
सपदि हुए अकुरित, पल्लवित पुष्पित, अल्प समय मे।

अनुभव कहते हुए हृदय मे एक अचिन्तित दुख को,
कुछ क्षण बाद उठाया उसने परम विषादित मुख को,
आँखें विष मे बूड रही-सी थी रसहीन सजल हो,
लम्बी एक उसाँस खीच कर बोला पथिक विकल हो।

'हाय! परम कर्त्तव्य भूल कर आ विरमा मै वन मे,
इससे बढ़ कर और भूल क्या होगी इस जीवन मे?"
फिर कर जोड़ कहा उसने-"हे अखिल जगत के स्वामी।
करके दया बना लो अब निज इच्छा का अनुगामी।"

फिर उसने विस्तृत स्वदेश की ओर दृष्टि निज फेरी,
कहा—"अहा! कैसी सुन्दर है जन्मभूमि यह मेरी!"
भक्ति, प्रेम, श्रद्धा से उसका तन पुलकित हो आया
रोम-रोम मे सेवा व्रत का परमानन्द समाया।

फिर बोला—"हे जन्मभूमि! हे देश! प्रेमधन मेरे!
मै यह जीवन-पुष्प चढ़ाता हूॅ चरणो पर तेरे।"
यह कह लगा सोचने मन मे कर्म उचित उपयोगी,
'जाने बिना निदान, बिना अनुभव, न सफलता होगी।'

'एक बार सम्पूर्ण देश का भ्रमण प्रथम मै कर लूॅ,
सुख-दुख का सब हेतु समझ कर ध्येय ध्यान मे धर लूॅ,
तब मै करूॅ कर्म पथ निश्चित जो ध्रुव सत्य विहित हो,
धर्म नीति के सरक्षण के जीव मात्र का हित हो।'

अत निरन्तर एक वर्ष तक दृढ़ निश्चय कर मन मे,
लगा रहा वह प्रान्त-प्रान्त मे देश-दशा-दर्शन मे।
उसने देखा—प्रचुर भरा सर्वत्र प्राकृतिक सुख है,
किन्तु देश उससे नितान्त अनभिज्ञ विरक्त विमुख है।

छूता हुआ गॉव की सीमा अति निर्मल जल वाला,
बहता है अविराम निरन्तर कलकल स्वर से नाला,
अनति दूर पर हरियाली से लदी खडी गिरि माला,
किन्तु नही इससे हृदयो मे है आनन्द-उजाला।

पथिक का आत्म-चिन्तन

कुमुद-बन्धु की मुदित कौमुदी भू पर उतर गगन से,
सोयी थी सिकता समूह पर परम अचिन्तित मन से,
बैठे हुए शिला पर, तन आगे की ओर झुकाये,
पथिक अचेतन, अचल, एकटक क्षिति पर दृष्टि गडाये–

था अति विकल निरीह, जुए मे मानो सब कुछ हारे,
पता नही था उसे छोड मुनि कब चुपचाप सिधारे।
मुनि के सच्चे वचन पथिक के प्रेम-विशुद्ध हृदय मे,
सपदि हुए अकुरित, पल्लवित पुष्पित, अल्प समय मे।

अनुभव कहते हुए हृदय मे एक अचिन्तित दुख को,
कुछ क्षण बाद उठाया उसने परम विषादित मुख को,
आँखे विष मे बूड़ रही-सी थी रसहीन सजल हो,
लम्बी एक उसाँस खीच कर बोला पथिक विकल हो।

'हाय! परम कर्त्तव्य भूल कर आ विरमा मै वन मे,
इससे बढ़ कर और भूल क्या होगी इस जीवन मे?"
फिर कर जोड़ कहा उसने-"हे अखिल जगत के स्वामी।
करके दया बना लो अब निज इच्छा का अनुगामी।"

फिर उसने विस्तृत स्वदेश की ओर दृष्टि निज फेरी,
कहा—"अहा ! कैसी सुन्दर है जन्मभूमि यह मेरी !"
भक्ति, प्रेम, श्रद्धा से उसका तन पुलकित हो आया
रोम - रोम मे सेवा व्रत का परमानन्द समाया।

फिर बोला—"हे जन्मभूमि ! हे देश ! प्रेमधन मेरे !
मै यह जीवन पुष्प चढ़ाता हूँ चरणो पर तेरे।"
यह कह लगा सोचने मन मे कर्म उचित उपयोगी,
'जाने बिना निदान, बिना अनुभव, न सफलता होगी।'

'एक वार सम्पूर्ण देश का भ्रमण प्रथम मै कर लूँ,
सुख-दुख का सब हेतु समझ कर ध्येय ध्यान मे धर लूँ,
तब मै करूँ कर्म पथ निश्चित जो ध्रुव सत्य विहित हो,
धर्म नीति के सरक्षण के जीव मात्र का हित हो।'

अत निरन्तर एक वर्ष तक दृढ़ निश्चय कर मन मे,
लगा रहा वह प्रान्त-प्रान्त मे देश-दशा-दर्शन मे।
उसने देखा—प्रचुर भरा सर्वत्र प्राकृतिक सुख है,
किन्तु देश उससे नितान्त अनभिज्ञ विरक्त विमुख है।

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जल वाला,
बहता है अविराम निरन्तर कलकल स्वर से नाला,
अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि माला,
किन्तु नही इससे हृदयो मे है आनन्द-उजाला।

कही श्याम चट्टान, कही दर्पण-सा उज्वल सर है,
कहीं हरे तृण खेत, कही गिरि-स्रोत-प्रवाह प्रखर है,
कहीं गगन के खम्भ, नारियल, तार भार सिर धारे,
रस-रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे।

घेर रही है जिसे पल्लवित लता सुगन्धित झाडी,
छाया शयित सघन आच्छादित कुंचित पन्थ पहाड़ी,
सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल-ऊँचाई,
एक घडी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई।

ऊँचे से झरने झरते हैं, शीतल धार धवल है,
यहाँ परमसुख शान्ति समन्वित नित आनन्द अटल है,
कहीं धार के पास शिला पर.बैठ लोग क्षण भर को,
पा सकते हैं शान्ति, मिटा सकते है जी के ज्वर को।

बार-बार बक-पक्ति-गमन से उज्वल फूलो वाली,
मेघ पुष्प वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली,
लहराती दृग की सीमा तक धानो की हरियाली,
वारिज नयन गगन छवि दर्शक सर की छटा निराली।

कदली वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती,
क्यों यह नहीं गाँव वालो के जी की जलन मिटाती ?
गेहूँ-चने-मटर-जौ के हैं खेत खड़े लहराते,
क्या कारण है जो ये मन का कुछ न विषाद मिटाते !

निम्ब, कदम्ब, अम्ब इमली की श्याम निरातप छाया,
सेवन कर फिर लोक-शोक की याद न रखती काया,
बैठ बाग की विशाद मेड पर कोमल, अमल पवन मे,
आँख मूँद करता किसान है श्रम का अनुभव मन मे।

कोकिल का आलाप, पपीहे की बिरहाकुल बानी,
तोता मैना का विवाद, बुलबुल की प्रेम-कहानी
मधुर प्रेम के गीत तरुनियाँ गातीं खेत निरातीं,
क्या ये क्षण भर को न किसी के मन का कष्ट भुलातीं ?

विमलोदक पुष्कर मे विकसे चित्र-विचित्र कुसुम है,
खड़े चतुर्दिक शान्त भाव से लतिकालिंगित द्रुम है
देख सलिल-दर्पण मे शोभा वे फूले न समाते,
दे प्रसून उपहार सरोवर को निज हर्ष जनाते।

सुन्दर सर है, लहर मनोरथ सी उठ कर मिट जाती,
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती,
लटक रहे है धवल सुगन्धित कन्दुक-से फल फूले,
गूँज रहे है अलि पीकर मकरन्द मोद मे भूले।

वजुल, मजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन-विसर से,
अलि-कुल आकुल बकुल मुकुल, सकुल व्याकुल, नभचर से,
आसपास का पथ सुरभित है, महक रही फुलवारी,
बिछी फूल की सेज, बाजती वीणा है सुखकारी !

नालो का सयोग, साँझ का समय, घना जङ्गल है,
ऊँचे-नीचे खोह कगारे, निर्जन बीहड थल है।
रह रह कर सौरभ समीर मे है बन-पुष्प उडाते,
ताप-तप्त जन यहाँ क्यो न आकर क्षण एक जुडाते ?

सन्ध्या समय चतुर्दिक से बहु हर्ष-निनाद सुनाते,
विविध रूप-रगो के पक्षी झुड झुड मिल आते,
बैठ पल्लवो पर सब मिल कर गान मनोहर गाते,
अद्भुत वाद्य-यन्त्र पादप को हैं प्रति दिवस बनाते।

प्रात काल ममत्वहीन वे कहाँ-कहाँ उड जाते,
जग को है अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते.
यह सब देख नही क्यो मन मे उत्तम भाव समाते ?
लोग यहाँ पर बैठ घड़ी भर क्यो न सीख कुल जाते ?

अति निस्तब्ध निशीथ, तमावृत मौन प्रकृति-कुल सारा,
शान्त गगन मे झिलमिल करते है नित नीरव तारा,
निद्रित दिशा, समीर, सुकोमल, उदयोन्मुख हिमकर है,
क्या सब शोक भुलाने का यह नही एक अवसर है ?

चारो ओर तुषार-धवल पर्वत चुपचाप खडा है,
प्रकृति-मुकुर सा एक सरोवर उसके मध्य जडा है,
तट पर एक शिला सुन्दर है, बैठ यहाँ यदि जाते—
तो क्या एक घडी न किसी के दृग, मन, प्राण जुडाते ?

लीची, श्रीफल, सेव, आम, बादाम, दाख, वेदाना,
रस से भरे विविध मेवों की रुचि-आकृति है नाना,
सब प्रभु की अद्भुत रचना का दृश्य विचित्र दिखाते,
दिव्य अयाचित दया प्राप्त कर क्यों न लोग सुख पाते ?

गिरि, मैदान, नगर, निर्जन में एक भाव में मानीं,
सरल कुटिल अति तरल मृदुल गति से बहु रूप दिखातीं,
अस्थिर समय समान प्रवाहित ये नदियाँ कुछ गातीं,
चलीं कहाँ से, कहाँ जा रहीं, क्यों आयीं, क्यों जातीं ?

[पथिक से]

स्वगत

अतिशय चपल रजत सम उज्ज्वल
निर्झर-तनया के तट-पथ पर,
युवक बसन्त भाव भारान्वित,
दृग के अर्द्ध कपाट बन्द कर,
विचरण में था निरत एक दिन,
मन्द-मन्द धर चरण-कोकनद,
मानो द्रुम-दल-लसित शैल पर,
क्षीर कान्तिमय नूतन नीरद।

सोच रहा था भूतल पर यह,
किसकी प्रेम-कथा है चित्रित ?
अम्बर के उर मे किस कवि के,
है गम्भीर भाव एकत्रित ?
किसकी सुख-निद्रा का मधुमय,
स्वप्न-खड है विशद विश्व यह ?
जग कितना सुन्दर लगता है,
ललित खिलौनो का सा सग्रह !

बार बार अकित करता है,
ऋतुओ मे सविता किसकी छवि ?
मोहित होता है मन ही मन,
देख देख किसकी क्रीडा कवि ?
वह कौन रूप का आकर,
जिसके मुख की कान्ति मनोहर,
देखा करती है सागर की
व्यग्र तरगें उचक-उचक कर ?

घन मे किस प्रियतम से चपला
करती है विनोद हँस-हँस कर
किसके लिए उषा उठती है
प्रति दिन कर शृंगार मनोहर ?

मजु मोतियो से प्रभात मे,
तृण का मरकत सा सुन्दर कर,
भर कर कौन खडा करता है,
जिसके स्वागत को प्रतिवासर ?

प्रात काल समीर कहाँ से,
उपवन मे चुपचाप पहुँच कर,
क्या सन्देश सुना जाता है
घूम घूम प्रत्येक द्वार पर ?
फूलो के आनन अचरज से,
खुल पड़ते है जिसे श्रवण कर,
थामे नही हँसी थमती है,
मुँह मुँदते ही नहीं जन्म भर ?

मारुत जिसके पास राज-कर
फूलो से परिमल का, लेकर
जाता है प्रति दिवस कहाँ वह
करता है निवास ? राजेश्वर ?
किसके गान-यन्त्र है पत्ती,
नभ, निकुज, सर मे, पर्वत पर,
मधुर गीत गाते रहते हैं,
इधर-उधर विचरण कर दिन भर ?

मैदानों की ओर, घाटियों
के पथ से, अविराम चपल गति
पवन घनों को हाँक रहा है,
पाकर के किस प्रभु की अनुमति ?
ढके हुए हैं गिरि-शिखरों को,
प्रचुर तुहिन पय-फेन-राशि सम,
शैल देख खिलखिला रहा है,
मानो कोई दृश्य मनोरम।

अति उत्तुंग, ऊर्मिमय फेनिल,
सिन्धु शापवश मानो जम कर,
हिम-पर्वत बन गया यकायक
तृण तरु गुल्म लता है जलचर !
किसके चिन्ता-शमन अलौकिक
मधुर गान से कान लगा कर,
ज्ञान भूल कर निज तन का क्यों,
है नीरव निस्तब्ध महीधर ?

सत्पुरुषों के मनोभाव-सा
सरल, विमल निरलस, कलरवमय,
अपनी ही गति में निमग्न है,
धारागत, उज्ज्वल, फेनिल पय।

पुष्प - भार से अवनत पौदों
से सुखप्रद सुवास सचय कर,
आती है मारुत की लहरें,
मन्थर गति से मनोव्यथा हर।

ये अति सघन सुपल्लव-शोभित
तरुवर शीतल छाँह बिछाकर,
सद्गृहस्थ सम अतिथि के लिए,
रहते हैं प्रस्तुत निशि - वासर,
खेतों मे, वन मे, प्रान्तर मे,
इतने लाल फूल हैं पुष्पित,
नार लगा करके बन-बन मे,
मानो है अनार आनन्दित।

इन्द्र - धनुष खेला करता है,
झरनों से हिल-मिल कर दिन भर,
तृप्त नहीं होते हैं दृग यह
दृश्य देख अनिमेष अवनि पर,
होता है इस नील झील में,
श्यामा का आगमन सुखद अति,
जल-क्रीड़ा करते हैं तारे,
लहरें लेता है रजनीपति।

हरियाली मे भाँति भाँति के
राशि-राशि है फूल विमिश्रित,
गिरि समूह के अन्तराल मे
विस्तृत वनस्थली है चित्रित,
भ्रम होता है रग-विरगी
हरित धरा को देख यकायक,
पुरुष-प्रिया की सूख रही है
ये मानो साडियाँ असख्यक।

मैदानो मे दूर-दूर तक
कितना आकर्षण है सचित!
नहीं दृष्टि में भर सकता है
इतना है सौन्दर्य सकुलित;
सन्ध्या आने ही वाली है
कैसा है यह समय मनोहर!
हिम-शिखरो को सजा रहे है
सविता स्वर्ण-मुकुट पहना कर।

इस विशाल तरुवर चिनार की
अति शीतल छाया सुखदायक,
चरण चूमने को आतुर-सी
पहुँची है गिरि की काया तक,

हिम शृगो को छोड़ रही हैं
दिनकर की किरने क्षण-क्षण पर,
तिरती है वे घन नौका पर
नभ सागर मे विविध रूप धर।

मुदित, सहस्र रश्मि ने पकडा
चिर-सुहागिनी सन्ध्या का कर
लौट रहा है मानो चतन
जगत अशुधर को पहुँचा कर,
बच्चो के अनुराग - डोर से
आकर्षित हो खग पतग - चय,
वेगवन्त है नीड - दिशा मे
विविध रूप - ध्वनि रग-ढग-मय।

ढोरो के पीछे चरवाहे
घर की ओर विपिन के पथ पर,
देते हैं सूचना साँझ की
मुरली के मधुमय स्वर मे भर,
वरह-भार से नत मलाह-गण
चले गुणवती नौका लेकर,
कोई गुणवन्ती इनको भी
खींच रही है क्या पद-पद पर ?

ये अनुराग भरे धरणीधर,
ग्राम-निकर, ये शान्ति समन्वित,
प्रिय की सुधि सी ये सरिताएँ,
ये कानन कान्तार, सुसज्जित,
हरित भूमि के मध्य विमल पथ,
पुष्पित लता, प्रसून मनोरम,
बाट जोहते है, सुख लेकर
घर के बाहर, मूक मित्र सम।

यहाँ नहीं हैं राग-द्वेष से
हृदय तरगित होने का भय,
यहाँ कपट-व्यवहार नही है
और नहीं जन-जन पर सशय,
यहाँ नहीं मन मे जगती है
प्रतिहिंसा की वृत्ति भयावह,
केवल है सौन्दर्य, शान्ति सुख!
कैसी है रमणीय जगह यह!

जग को आँखो से ओझल कर,
बरबस मेरी दृष्टि उठा कर,
झिलमिल करते हुए गगन में
तारो के पथ पर पहुँचा कर,

करता है संकेत देखने
        को किस का सौन्दर्य मनोरम,
आकर के चुपचाप कहीं से
        यह संध्या का तम, अति प्रिय तन ?

हा ! यह फूल किसी दिन अपनी
        अनुपम सुन्दरता से गर्वित,
आया था जग में उमंग से
        किसी वासना से आकर्षित,
पर देखा क्या ? क्षण भंगुर सुख
        आशा और मृत्यु का संगर,
मुरझ गया होकर हताश अति
        सौरभ का निःश्वास छोड़कर।

जग क्या है ? किसलिए बना है ?
        क्यों है यह इतना आकर्षक ?
कब से हूँ सचेत, पर फिर भी
        इसका खुला रहस्य न अब तक,
मैं जिसके निर्मल प्रकाश में
        करता हूँ दिन-रात अतिक्रम,
ज्योति-मूल वह कहाँ प्रकट है ?
        बाहर है किसका छाया-तम ?

[स्वप्न से]

पश्चात्ताप

सरके कपोल के उजाले मे दिवस, रात
केशो के अँधेरे मे निकल भागी पास से,
सन्ध्या बालपन की, युवापन की आधी रात
मैंने काट डाली क्षण भगुर विलास से,
श्वेत केश झलके प्रभात की किरन से तो,
आँखे खुलीं काल के कुटिल मन्द हास से,
मेरे करुणानिधि का आसन गरम होगा,
कौन जाने कब मेरे शीतल उसास से?

पुष्प-विकाश

एक दिन मोहन प्रभात ही पधारे, उन्हें
देख फूल उठे हाथ पॉव उपवन के,
खोल-खोल द्वार फूल घर से निकल आये,
देख के लुटाये निज कोष सुवरन के,
वैसी छवि और कहीं, ढूढ़ने सुगन्ध उड़ी,
पायी न, लजा के रही बाहर भवन के,
मारे अचरज के खुले थे सो खुले ही रहे,
तब से मुँदे न मुख चकित सुमन के।

———

आकांक्षा

होते हम हृदय किसी के विरहाकुल जो,
होते हम आँसू किसी प्रेमी के नयन के,
पू◌े पतझड मे बसन्त की बयार होते,
होते हम जो कही मनोरथ सुजन के,
दुख-दलितो मे हम आशा की किरन होते.
होते पछतावा अविवेकियो के मन के,
मानते विधाता का बड़ा ही उपकार हम,
होते गाँठ के धन, कहीं जो द न जन के।

[मानसी से]

अन्वेषण

मै ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन मे,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन मे,
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था!
मैं था तुझे बुलाता सगीत मे, भजन मे।
मेरे लिए खड़ा था दुखियो के द्वार पर तू,
मै बाट जोहता था तेरी किसी चमन मे।
बन कर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू,
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन मे।

दुख से रुला-रुलाकर तूने मुझे चिताया,
मै मस्त हो रहा था तब हाय ! अजुमन मे।
बाजे बजा-बजाकर मै था तुझे रिझाता,
तब तू लगा हुआ था पतितो के सगठन मे।

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर,
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन मे।
तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओ के,
मै स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरन मे ?

तूने दिये अनेको अवसर न मिल सका मै,
तू कर्म मे मगन था, मै व्यस्त था कथन मे।
हरिचन्द्र और ध्रुव ने कुछ और ही बताया,
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन मे।

तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था,
पर तू बसा हुआ था फरहाद कोहकन मे।
'क्रीसस की हाय' मे था करता विनोद तू ही,
तू ही विहँस रहा था महमूद के रुदन मे।

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना,
तूही मचल रहा था मसूर की रहन मे।
आखिर चमक पड़ा था गान्धी की हड्डियो में,
मै तो समझ रहा था सुहराब पील तन मे।

कैसे तुझे मिलूँगा, जब भेद इस क़दर है ?
हैरान होके भगवन ! आया हूँ मै सरन मे ।
तू रूप है किरन मे, सौन्दर्य है सुमन मे,
तू प्राण है पवन मे, विस्तार है गगन मे ।

ज्ञान हिन्दुओ मे, ईमान मुसलिमो मे,
विस्वास क्रिश्चियन मे, तू सत्य है सुजन मे ।
हे दीनबन्धु ! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू,
देखूँ तुझे दृगो मे, मन मे तथा बचन मे ।

कठिनाइयो, दुखो का इतिहास ही सुयश है,
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन मे ।
दुख मे न हार मानूँ, सुख म तुझे न भूलूँ,
ऐसा प्रभाव भर दे, मेरे अधीर मन मे ।

[स्फुट]

श्री रामनरेश त्रिपाठी के ग्रन्थ

कविता—पथिक, मिलन, स्वप्न, मानसी।

नाटक—जयन्त, प्रेमलोक।

उपन्यास—लक्ष्मी, सुभद्रा।

कहानी—तरकस, स्वप्नों के चित्र।

अनुवाद—कौन जागता है (नाटक), इतना तो जानो (राजनीति)।

सम्पादन—कविता कौमुदी ६ भाग, रामचरितमानस, हिन्दुस्तानी-कोष, घाघ-भड्डरी, ग्राम-गीत, भूषण ग्रन्थावली, हिन्दी ज्ञानोदय।

संग्रह—सुकवि कौमुदी, नीति रत्नमाला, चिन्तामणि।

अन्य—तुलसीदास और उनकी कविता, हिन्दी पद्य रचना, माडवार के मनोहर गीत।

बाल-साहित्य—बालकथा कहानी, मोहनमाला, बताओ तो जानें नेता पहेली, गुपचुप कहानियाँ, कविता-विनोद आदि।

श्री गोपालशरणसिंह

श्री गोपालशरण सिंह द्विवेदी युग के प्रधान कवियों में हैं। उन्होंने उस समय से लिखना आरम्भ किया था, जिस समय खड़ी बोली कविता की रूपरेखा निर्धारित हो रही थी। "सिर ऊँचा कर मुख खोले है। मीठी सी बानी बोलै है' वाली कोकिल का वर्णन करने में जब ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली अपने पैरों पर खड़ी होने जा रही थी, उस समय श्री गोपाल शरणसिंह ने उसकी उँगली पकड़ कर उसका पथ-प्रदर्शन किया था। द्विवेदी युग में श्री गोपालशरणसिंह ने जिस प्रकार की काव्यरचना की थी, उसमें यद्यपि भावों की व्यंजना अत्यन्त तीव्र नहीं थी, तथापि भाषा का रूप उन्होंने स्पष्ट रख दिया था। इस क्षेत्र में उनकी समानता बाबू मैथिली शरण गुप्त से ही की जा सकती है।



सन् १६२६ मे इनकी कविताओ का सग्रह 'माधवी' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसमे भावो के शब्द चित्र बडे ही मनोरम हैं। इसमें कवि अधिकतर भक्त के रूप मे है और वह श्रीकृष्ण, ब्रज, यमुना आदि पर अपने सरस हृदय की भाव-धारा प्रवाहित करता है। ये रचनाएँ घनाक्षरी छन्द मे है। खडी बोली मे घनाक्षरी छन्द इतने मनोहर रूप मे अभी तक नहीं आया। भावना और कल्पना समान रूप से मिलकर कवि के अन्तर्गत का चित्र खीच देती है —

जाऊँ मैं कहाँ गोपाल शरण तुम्हारी छोड़ ?
नाम के ही नाते अब मुझे अपनाओ तुम।

कादम्बिनी मे कवि प्रकृति-प्रेमी के साथ ही साथ रहस्यवादी भी हो गया है। उसके भावो का प्रदर्शन साकेतिक भाषा मे है। कवि प्रकृति के प्रागण मे विहार कर चॉदनी की छटा देखता है और कभी 'उपवन मे पहुँच कर आमोद-प्रमोद करता है। वह भाषा के साथ भावो का भी शासक है और कविता उसकी 'नीति' सी हो गई है, जिसका प्रयोग वह कौशल के साथ करता है।

श्री गोपालशरणसिंह की सामाजिक कविताओ का सग्रह 'मानवी' नाम से प्रकाशित हो गया है। उसका परिचय देते हुए महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह ने लिखा है —

"कवि के इस काव्य मे नारी हृदय की चिरकालीन विश्व वेदना का स्वर गूँज रहा है।

स्वयम् कवि ने अपनी मानवी का परिचय इस प्रकार दिया है :—

युग युग के अगणित क्लेशों की
तू है करुण कहानी।

काव्य की अभिव्यंजना के साथ सरलता श्री गोपालशरणसिंह की कविता का विशेष गुण है। षोड़स हिन्दी साहित्य सम्मेलन, वृन्दावन के अखिल भारतीय हिन्दी कवि-सम्मेलन के सभापति के पद से उन्होंने जो भाषण दिया था, उसमें उनके विचार कविता के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हैं : —

"सरस तो कविता को होना ही चाहिये, किन्तु उसे सरल भी होना चाहिये। रस उसका प्राण है तो सरलता उसका सबसे बड़ा गुण। सरलता के अभाव में सरसता भी मुँह छिपा लेती है।"

श्री गोपालशरणसिंह हिन्दी के जागरूक कवि हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त के समान ही उन्होंने समय की गति के साथ काव्यगत दृष्टिकोण में भी परिवर्तन किया है। 'मानवी' के बाद उन्होंने 'ज्योतिष्मती' में समय की रहस्यवादी विचार-धारा के अनुकूल "अज्ञेय, अचिन्त्य और अप्रमेय' का अनुसन्धान किया है। 'ज्योतिष्मती' के प्रारम्भ में उनका निवेदन है कि 'सांसारिक उत्पीड़न और दुःख दैन्य का ध्यान आते ही अदृष्ट 'करुणामय' की ओर चित्त अनायास आकर्षित हो जाता है और कुछ कहने के लिये हृदय आतुर हो उठता है।' ऐसी रचनाओं में वे व्यंजना का प्रयोग विशेष रूप से करते हैं। सारी कविताएँ 'तुम' 'मैं' और 'संसार' में विभाजित है। इस संग्रह की कुछ रचनाएँ १९२३

और १६२६ के बीच की ह , शेप इपर की। पहले काल की रचनाएँ अधिकतर लम्बी ह , परवर्ती काल की रचनाएँ गीतात्मक और छोटी हे।

'ज्योतिष्मती' के बाद का सग्रह है 'सचित'। इस सग्रह मे सन् १६१४ से लेकर १६३६ तक की सब प्रकार की रचनाओ का समावेश है। इसमे अनेक कविताएँ 'माधवी' के पहले की भी हैं जो स्वर्गीय प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रोत्साहन से लिखी गई थी। यह सग्रह ठाकुर साहब की काव्य साधना का इतिहास कहा जा सकता है। इस सग्रह से कवि की कविता की गति विधि के समझने मे पाठकों को सुविधा होगी। आगे चलकर कवि की जो कविताएँ 'आधुनिक कवि (४)' मे सग्रहीत हुई, वे इसी सग्रह में अपनी आधार भूमि खोज सकी।

'सागरिका' मे कवि के एकान्त जीवन की अभिव्यक्ति है। प्रकृति और जीवन का जो सामञ्जस्य ग्रामो मे दिखलाई पड़ता है उसका प्रतिबिम्ब 'सागरिका' मे देखा जा सकता है। काव्य की दृष्टि से ठाकुर गोपालशरणसिह की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक 'ज्योतिष्मती' है। सम्भव है प्रकृति और जीवन का सामञ्जस्य जो आजकल कवि के द्वारा अनुभव किया जा रहा है किसी खड काव्य या महाकाव्य को जन्म दे सके।

नन्दलाल

बोलो श्याम ! गोकुल की तग गलियो मे घूम,
रंग था जमाता कौन बालक अहीर का ?
याद क्या नहीं है तुम्हे प्यारे ग्वाल-बाल सग,
नित्य गेंद खेलना कलिन्दजा के तीर का ?
किसके विरह मे बताओ बनता था सिन्धु,
ब्रज-बनिताओ के विलोचन के नीर का ?
चाहे दधि क्षीर का चुराना तुम्हे भूल जाय,
भूल सकता है क्या चुराना कभी चीर का ?

जाना भी तुम्हे था तो भुलाना था हमे न कभी,
क्या नहीं तुम्हें था फिर लोट कर आना भी ?
तुमने सभी से यहाँ प्रीति थी बढ़ायी खूब,
क्या नहीं तुम्हे था फिर उसको निभाना भी ?
तुम हो निठुर सदा हमको खिझाते रहे,
सीख गये अब तो तुम हमे कलपाना भी।
तोड़ोगे कहो, क्या निज नाता ब्रज-वासियों से,
छोड़ोगे भला क्या नन्दलाल कहलाना भी ?

कैसे ब्रजवासी भूल जायँ वे तुम्हारे मंजु
मोर-पख, लकुट, रुचिर बनमाल को ?
मंजुल मराल का जो मान हरती थी सदा,
कैसे भूल जायँ वे तुम्हारी उस चाल को ?
तुम्हीं बतलाओ करें कौन वे उपाय, हाय !
किस भाँति तोड़े वे तुम्हारे प्रेम-जाल को ?
ब्रज को भले ही भूल जाओ, ब्रजचन्द तुम,
कैसे ब्रज भूले निज प्यारे नन्दलाल को ?



शिशु

धारा प्रेम सागर की लायी शिशु को है यहाँ
विधि ने बनाया क्या खिलौना एक न्यारा है ?
न्यारा सब जग से है उसका अनूप रूप,
विकसित, कंज के समान अति प्यारा है,
प्यारा वह मंजुता की मूर्ति-सा किसे है नहीं,
व्योम से गिरा हुआ क्या कोई लघु तारा है ?
तारा लोक-लोचन का, सबका दुलारा मानो,
माता के सनेह ने सगुण रूप धारा है।

छहर रही है एक सुन्दर नवीन छटा
सुमन - समान - सुकुमार अंग—अग मे,
आज कुछ और, कल और ही है मजु छवि,
मानो रँगता है कोई नित्य नये रग मे,
जाने जिन्हे जानने का दावा रहता है सदा,
शिशु है निमग्न किस भाव की तरग मे?
सोच-सोच हार गया समझ न पाया कभी,
उछल रहा है वह कौन सी उमंग मे?

आया अनजान साथ लाया कुछ भी है नही,
नेक भी किसी से नही जान पहचान है,
रहता चकित है विलोक यह लोक नया,
उसे यह विश्व इन्द्रजाल के समान है,
भाता है जगत का न कोई भी पदार्थ उसे,
भाता जननी का बस उर-रस-पान है,
सोकर ही समय बिताता अधिकांश शिशु,
करता किसी का मानो दिन-रात ध्यान है!

जिसको विलोक मुग्ध होता है सदैव मन,
मुख पर छाया कैसा विमल प्रकाश है!
मन्द-मन्द मजुल मधुर मुसकान द्वारा,
करता प्रकट शिशु अतुल हुलास है,

देख-देख चारो ओर खोजता किसे है वह,
मन मे छिपाये कौन मजु अभिलाष है ?
कोमल-कुसुम जैसे नन्हें नन्हे अग मे ही,
छिपा सब शक्तियो का चरम विकास है।

शिशु के शरीर की परम लघुता को देख,
होता मन मे भ्रम, है या नही तन है।
मानो रूप-घन से चुआ है सुधा बिन्दु एक,
किम्बा प्रेम-पादप का सुन्दर सुमन है।
धन की उसे हो नेक कामना कभी क्यो भला ?
वह तो स्वयम् ही बड़ा अनमोल धन है,
करता सदैव वह शासन जगत का है,
किन्तु बल क्या है ? अहो, केवल रुदन है।

परम अशक्त असहाय वह ज्ञात हुआ,
किन्तु अब कैसा रग शिशु ने जमाया है,
परवश होकर भी वश मे भी सभी को किया,
मानो वह कोई नया जादू सीख आया है,
अनायास उसने चुराया चित्त जग का है,
प्रेम - वश लाल और हीरा कहलाया है,
माता के उदर से निकल कर आया, पर
उर मे उसी के स्नेह-रूप मे समाया है।

वह है अकाम, दाम से है उसे काम नहीं,
भाता जिसे जो है उसे देता वही नाम है ,
उसकी उपासना मे लीन रहता है लोक,
किन्तु वह वासना-विहीन अविराम है ,
देश-देश ग्राम-ग्राम धाम-धाम मे है वह,
उसका प्रभाव सब ठौर "वसु" याम है ,
प्रकटे उसी के रूप मे थे घनश्याम-राम,
परम ललाम शिशु ईश अभिराम है ।

[माधवी से]

— – —

चाँदनी

थी खिली पलास द्रुमाली-सी,
सन्ध्या सुहासिनी की लाली ,
मिल गयी प्रभाली थी दोनो,
आने वाली जाने वाली ,

हो गयीं दिशाएँ रंजित-सी,
इस अरुण मनोज्ञ प्रभाली से ,
पर निकल पडी काली रजनी,
सन्ध्या की सुन्दर लाली से ।

दिनमणि की जो किरणे दिन मे,
थीं फैली जग के कण-कण मे,
वे ही जाकर निशि के नभ मे,
हँसती-सी थी तारागण मे।

इस निभृत निशा की गोदी मे,
सो रहे सृष्टि के कण-कण थे,
बस तारागण ही आपस मे,
कर रहे मौन सम्भाषण थे।

खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु,
मणि-जटित गगन के आँगन मे,
तारावलि उसकी प्रभा देख,
खिल गयी मुदित होकर मन मे।

उसने सारे जगती तल पर,
निज कीर्त्ति-कौमुदी छिटकायी,
चढ़ किरण-जाल के वाहन पर,
वह हस-वाहिनी-सी आयी।

वसुधा से आकर लिपट गयी,
वह बाल-सखी-सी मन भायी।
मिल कर उससे पुलकित सी हो,
वसुधा मन ही मन मुसकायी।

अब प्रकृति नटी की रग-भूमि,
सज गयी खूब है मन भायी ;
है शशि की किरणो ने उस पर,
चाँदनी-चाँदनी फैलायी।

क्या शुभ्र-हासिनी शरद् घटा,
अवनी पर आकर है छायी ?
अथवा गिर कर नभ से कोई,
सुर बाला हुई धराशायी ?

सोती अबलाओ के समीप,
वह वातायन से जाती है,
प्रिय शशि समान उनके सुन्दर,
मुख चूम-चूम सुख पाती है।

निर्जन विपिनो मे घुस-घुस कर,
किसकी तलाश वह करती है ?
वह देश-देश मे ग्राम-ग्राम मे
किसके लिए विचरती है ?

नभ से अवनी पर आने से,
मानो वह भी थक जाती है,
श्रम-स्वेद कणो से ओस-बिन्दु,
धरणी तल पर टपकाती है।

सागर सरिता की लहरो से,
हिल-मिलकर क्रीडा करती है,
वन, उपवन और सरोवर मे,
वह प्रभा-पुंज सी भरती है।

शैलो के शिखरो पर बैठी,
वह मन्द-मन्द मुसकाती है,
मृदु पवन विकम्पित द्रुमावली,
झुक-झुक कर चॅबर चलाती है।

जिसके समीप वह जाती है,
उसका स्वरूप धर लेती है,
है बहुरूपिणी-बाल छवि-सी
छवि-छवि मे छवि भर देती है।

लेटी सुमनो की शय्या पर,
वह है वियोगिनी बाला-सी,
वसुधा के वक्षस्थल पर है,
शुचि, स्वेत सुमन की माला-सी

प्रतिविम्बित चचल जल मे हो,
शशि-प्रभा और भी खिलती है,
सागर की ऊॅची लहरो पर,
चॉदनी चॉद से मिलती है।

परबत की चोटी पर चढ़ कर,
वह करती कौन इशारा है?
सन्देश भेजती क्या कुछ वह,
शशि को किरणो के द्वारा है?

फूलो के मृदु उर मे घुसकर,
निज जीवन भूला करती है,
हिलते कोमल किसलय-दल पर,
वह झूला, झूला करती है।

नक्षत्रो से ज्योतित नभ की,
वह है अति सुन्दर, छाया सी,
ससार अचेतन है जिसमे,
है परब्रह्म की माया-सी।

[कादम्बिनी से]

परदे में

है परदे मे बालाएँ,
मृदु मजुल मणि-मालाएँ,
सुरराज - सदन - सी सुन्दर,
है सजी रग - शालाएँ।

ज्योतियाँ रुचिर रत्नो की,
हैं जगमग - जगमग जगती ;
परदे के भीतर प्रति दिन,
है इन्द्र - सभाएँ लगती।

शशि की कल कोमल किरणें,
है कभी न बाहर आतीं।
परदे के भीतर ही वे,
है सुधा - वारि बरसाती।

परदे मे सुख का घर है,
सम्पदा स्वयम् है चेरी,
पर दुख शोक भी हर दम,
है वहाँ लगाते फेरी।

जीवन, जीवन के सुख को,
अपने ही से खोता है,
मृदुता का कठोरता से,
दुख मूल मिलन होता है।

कितनी ही कोमल कलियाँ,
मुँह को भी खोल न पाती,
हो दलित कठोर करो से,
मुरझा कर हैं झड़ जातीं।

शुचि ज्ञान-भानु उर मे ही,
        है सदा छिपा रह जाता;
उसका प्रकाश अवनी मे,
        है कभी न होने पाता।

गगा-यमुना की धारा,
        बसती सूने सदनो मे,
परदे के भीतर सागर
        लहराता है नयनो मे।

कोयलें कैद पिंजर मे,
        सिर-धुन धुन कर हैं रोती,
सुमनो की सुख-शय्या पर,
        हैं विरह-व्यथाएँ सोती।

परदे के भीतर कोई,
        है कभी न जाने पाता,
तो भी ईर्षानल जाकर,
        है कोमल हृदय जलाता।

लोनी-लोनी लतिकाएँ,
        दुख के तुषार की मारी,
हैं नित्य सूखती जाती,
        भोली-भाली बेचारी।

है गूँज रही परदे मे
कितनी ही क्लेश - कथाए,
महलो के भीतर छिप कर,
रहती है विविध व्यथाएँ।

सब साथ-साथ रहती है,
अबलाएँ और बलाएँ,
शशि की कमनीय कलाएँ,
घन की घनघोर घटाएँ।

कहती है करुण कहानी,
रोकर आँखे बेचारी,
उत्तर उनको मिलता है,
लाचारी है लाचारी।

लज्जा का निठुर करो से,
है गला दबाया जाता,
सुख से वचित बेचारा,
है प्यार ठोकरें खाता।

करुणा की करुण पुकारें,
दीवारो से टकराती,
मन की सब अभिलाषाएँ,
मन मे ही है रह जातीं।

है झूम रहीं मस्ती से,
मस्ती की ही तसवीरें,
परदे मे सिर धुनती हैं
कितनी फूटी तकदीरें।

काजल के काले - काले,
गिरते है आँसू - मोती,
घर के भीतर कानो मे,
है दीप - शिखाएँ रोती।

उर - तन्त्री के तारो को,
है बारम्बार बजाती,
अन्तर्वेदना व्यथा के,
है नीरव गाने गाती।

रजनी मे दिन रहता है,
दिन मे रजनी है काली,
परदे मे छिपी हुई है,
दुनिया ही एक निराली।

[मानवी से]



अकेला

मै हूँ यहाँ अकेला
नाथ! तुम्हारे आने की ही,
देख रहा बेला।
जहाँ तुम्हारा वास स्थल है
वहीं वास था मेरा,
कितने सुन्दर स्वर्ग धाम से,
नीचे मुझे धकेला?
किस प्रकार फिर स्वयम् तुम्हारे,
निकट पहुँच मै पाऊँ?
लगा तुम्हारे आँगन मे है
नक्षत्रो का मेला।
घन की सघन घटा से आवृत
रवि का रूप दिखाया,
खेल चुके बहु बार जिसे तुम,
वही खेल फिर खेला।
अन्धकार में रहते - रहते
ऊब गया मन मेरा,
ज्योतिर्मय! चिर तममय गृह मे,
आकर करो उजेला।

[ज्योतिस्मती से]

जीने की अभिलाषा

यत्न से छिपाये चिरकाल से थे जिसे,
कह दिया उसे मूक वेदना की भाषा ने।
किस भाँति शान्ति हमे मिलती कदापि भला ?
लेने दिया चैन नही उर की पिपासा ने।
कुहकिनी आशा ये हमारा साथ छोड़ दिया,
पर अवलम्ब दिया आकर निराशा ने।
कैसा है बनाया हमे अजब तमाशा एक,
जीने की हमारी इस तुच्छ अभिलाषा ने !

[संचिता से]

सागरिका

सागर के उर पर नाच-नाच, करती है लहरे मधुर गान !
जगती के मन को खीच खींच,
निज छवि के रस से सीच सींच,
जल-कन्याये भोली अजान। सागर के० ॥

प्रात समीर से हो अधीर
छू कर पल पल उल्लसित तीर,
कुसुमावलि-सी पुलकित महान। सागर के० ॥
सध्या से पाकर रुचिर रग,
करती सी शत सुर-चाप भग,
हिलते तरु-नव-दल के समान। सागर के० ॥
करतल गत कर नभ की बिभूति,
पाकर शशि से सुपमानुभूति,
तारावलि सी मृदु दीप्तिमान। सागर के० ॥
तन पर शोभित नीला दुकूल,
है छिपे हृदय मे भाव-फूल,
आकर्षित करती हुई ध्यान। सागर के० ॥
है कभी मुदित है कभी खिन्न,
है कभी मिली, है कभी भिन्न,
है एक सूत्र मे बँधे प्राण।
सागर के उर पर नाच-नाच, करती है लहरे मधुर गान!

[सागरिका से]

श्री गोपालशरणसिंह के ग्रन्थ

काव्य ग्रन्थ—माधवी, कादम्बिनी, मानवी, ज्योतिस्मयी, सञ्चिता, सागरिका, विश्वगीत (अप्रकाशित)।



नवीन धारा (पूर्व)

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद'

श्री सूर्यकान्त त्रिपाटी 'निराला'

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

श्री जयशंकर 'प्रसाद' अब हमारे साथ नहीं हैं। वे हमारे साहित्य के सब से अधिक गम्भीर कवि थे।

प्रसादजी ने साहित्य के अनेक अंगों की वृद्धि की है। कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी उनके प्रिय विषय थे। कविता के क्षेत्र में उन्होंने जीवन के रहस्यपूर्ण तथ्यों को रहस्यपूर्ण भाषा ही में प्रदर्शित किया है। किन्तु कविता से अधिक सफलता उन्हें नाटक क्षेत्र में मिली। वे प्रथमतः ऐतिहासिक नाटककार हैं। नाटक में मनोवैज्ञानिक संघर्ष की आवश्यकता होती है, पात्र के चरित्र-दर्शन में भावों की जटिल शृंखला भी स्पष्टता के साथ सामने आती है प्रसादजी की इसी शैली का प्रभाव उनकी कविता पर भी पड़ा है। वे कहीं-कहीं बहुत मनोवैज्ञानिक हो गये हैं। भावना की चरम अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हमारे सामने आती है। जिस प्रकार सूरदास ने अपने भ्रमरगीत में वियोग-शृंगार के प्रत्येक संचारी भाव को गोपिका के उपालम्भ में सजाया है, उसी प्रकार प्रसादजी ने भी हृदय के भावों



की चित्रावली प्रस्तुत कर दी है। कामायनी में रूपक के आवरण को हटा कर देखिये तो हृदय और मस्तिष्क के सम्बन्ध की अनेक परिस्थितियाँ केवल भावों के विकास में ही समझायी गयी हैं। 'श्रद्धा' और 'इडा' तो उनमें मुख्य ही हैं।

प्रसाद का गाम्भीर्य कहीं-कहीं अस्पष्ट है जैसे वह मौन तपस्वी है। प्रसाद का दार्शनिक और कवि अनेक स्थानों पर अलग हो गया है। अतः कहीं कहीं उनकी पंक्तियाँ कोरी दार्शनिकता से भरी हैं। कामायनी का 'संघर्ष' इसका उदाहरण है।

प्रसादजी ने जहाँ कहीं गीतों की सृष्टि की है, वहाँ वे पूर्ण सफल हैं। एक भावना का संगीतमय आरोह और अवरोह वे भली भाँति जानते हैं और इसीलिये भाव-चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। उनकी भावुकता जब रहस्यवाद से मिलती है तब वह एक सन्देशवाहिनी हो जाती है। वे भावों के जाल में नहीं उलझते, प्रत्युत वे भावना के पीछे संकेत को श्रेष्ठ मानते हैं।

प्रसादजी उपन्यास-लेखक और कहानीकार भी हैं। वहाँ भी वे आध्यात्मिकता को नहीं भूलते और भावना में बहुत गूढ़ हो जाते हैं। कल्पना में उन्हें अधिक क्षमता नहीं। कल्पना-जगत में वे चित्रों की सृष्टि करते हैं, पर उन्हें सजा नहीं सकते। सम्भवतः उनकी दार्शनिकता उन्हें ऐसा करने से रोकती है।

हिन्दी साहित्य का यह महान् दार्शनिक कवि—जिसे जीवन के बाद अपने ग्रन्थ 'कामायनी' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त करने का गौरव मिला, कार्तिक शुक्ल १२ सम्वत् १९९४ को दिवगत हो गया।

गीता

बीती विभावरी जाग री

अम्बर-पनघट मे डुबो रही—
तारा घट ऊषा नागरी।

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अचल डोल रहा,

लो, यह लतिका भी भर लायी—
मधु मुकुल नवल रस-गागरी।

अधरो मे राग अमन्द पिये,
अलको मे मलयज बन्द किये—

तू अब तक सोयी है आली!
आँखो मे भरे विहाग री!

———

लहर

कितने दिन जीवन जल-निधि मे—
विकल अनिल से प्रेरित होकर,
लहरी कूल चूमने चल कर,
उठती गिरती-सी रुक-रुक कर,
सृजन करेगी छवि गति-विधि मे!

कितनी मधु संगीत-निनादित,
गाथाएँ निज ले चिर-संचित,
तरल तान, गावेगी वंचित !
पागल सी इस पथ निरवधि मे

दिनकर, हिमकर, तारा के दल
इसके मुकुर-वक्ष मे निर्मल,
चित्र बनायेगे निज चंचल !
आशा की माधुरी अवधि मे।

— — —

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?
जब सावन-घन-सघन बरसते—
इन आँखो की छाया भर थे !

सुर-धनु-रंजित नव-जलधर से
भरे, क्षितिज-व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण पपीहा के स्वर वाली,
बरस रही थी जब हरियाली
रस-जलकन मालती मुकुल से—
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ-पट पर वह विरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमे—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

[लहर से]

———

स्मृति

किसकी निर्जन रजनी मे,
तारो के दीप जलाये,
स्वर्गंगा की धारा मे,
मिलने की भेट चढ़ाये।

शशि मुख पर घूँघट डाले
अचल मे दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली मे,
कौतूहल के तुम आये!

मै अपलक इन नयनो से
निरखा करता उस छवि को,
प्रतिभा-डाली भर लाता,
कर देता दान सुकवि को।

घन मे सुन्दर बिजली-सी,
बिजली मे चपल चमक-सी,
आँखो मे काली पुतली,
पुतली मे श्याम झलक-सी

प्रतिमा मे सजीवता-सी,
बस गयी सुछवि आँखो मे,
थी एक लकीर हृदय मे,
जो अलग रही लाखो मे।

तुम रूप रूप थे केवल,
या हृदय रहा भी तुमको?
जडता की सब माया थी,
चैतन्य समझकर हमको।

विष-प्याला जो मै पी लूँ,
वह मदिरा हो जीवन मे,
सौन्दर्य्य पलक प्याले का,
क्यों प्रेम बना है कन मे?

छलना थी फिर भी, मेरा
इसमे विश्वास बना था,
उस माया की छाया में,
कुछ सच्चा स्वयम् बना था।

कामना - सिन्धु लहराता
छवि-पूर्ण प्रभा थी छायी,
रत्नाकर बनी चमकती,
मेरे शशि की परछाई।

लहरों में प्यास भरी थी,
थे भँवर-पात्र भी खाली,
मानस का सब रस पीकर,
लुढ़का दी तुमने प्याली!

सुख-आहत, शान्त - उमंगे
बेगार साँस ढोने में,
यह हृदय समाधि बना है,
रोती करुणा कोने में!

अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना।
भीगी पलकों का लगना।

इस विकल वेदना को ले,
कितने सुख को ललकारा?
वह एक अबोध अकिंचन,
बेसुध चैतन्य हमारा!

उस पार कहाँ फिर जाऊँ ?
तन के मलीन अंचल मे
जीवन का लोभ न है वह,
वेदना छद्म के छल मे।

वेदना विकल फिर आयी
मेरी, चौदहो भुवन मे,
सुख कही न दिया : दिखायी,
विश्राम कहाँ जीवन मे ?

उच्छ्वास और आँसू मे
विश्राम थका सोता है,
रोयी आँखो मे निद्रा
बन कर, सपना सोता है।

[आँसू से]

शिल्प सौन्दर्य

कोलाहल क्यों मचा हुआ है ? घोर यह
महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा,

अथवा तोपों के मिस से हुँकार यह
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा।
नहीं, महा संघर्षण से हो कर व्यथित
हरि-चन्दन दावानल फैलाने लगा।
आर्य-मन्दिरों के सब ध्वंस बचे हुए
धूल उडाने लगे, पडी जो आँख में
उनके—जिनसे वे थे खुदवाये गये—
जिससे देख न सकते वे कर्त्तव्य-पथ।

दुर्दिन जल-धारा न सम्हाल सकी अहो !
बालू की दीवाल मुगल साम्राज्य की।

आर्य शिल्प के साथ गिरा वह भी जिसे
अपने कर से खोदा आलमगीर ने,
मुगल महीपति के अत्याचारी, अबल
कर कँपने से लगे, अहो। यह क्या हुआ ?

मुगल अदृष्टाकाश-मध्य, अति तेज से,
धूमकेतु-से सूर्यमल्ल प्रमुदित हुए,
सिह-द्वार है खुला दीन के मुख सदृश ,
प्रतिहिसा-पूरित वीरो की मडली
व्याप्त हो रही है दिल्ली के दुर्ग मे
मुगल महीपो के आवासादिक बहुत
टूट चुके है, आम खास के अश भी,
किन्तु न कोई सैनिक भी सम्मुख हुआ ।

रोपानल से ज्वलित नेत्र भी लाल है,
मुख-मडल भीपण प्रतिहिसा-पूर्ण है ।

सूर्यमल्ल, मध्याह्न सूर्य सम चड हो,
मोती मस्जिद के प्रांगण मे है खडे,
भीम गदा है कर मे, मन मे वेग है ,
उठा क्रुद्ध हो, सबल हाथ ले कर गदा,
छज्जे पर जा पड़ा, कॉप कर रह गयी,
मर्मर की दीवाल, अलग टुकड़ा हुआ,
किन्तु न फिर वह चला चड कर नाश को ।
क्यो जी, यह कैसा निष्क्रिय प्रतिरोध है ?

सूर्यमल्ल रुक गये, हृदय भी रुक गया,
भीषणता रुक कर करुणा-सी हो गयी ।

कहा—नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से—
इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की,
सुन्दरता मे पूर्ण सदा के लिए ही
हो जायेगी लुप्त बडा आश्चर्य है !
आज काम वह किया शिल्प-सौन्दर्य ने,
जिसे न करती कभी सहस्रो वक्तृता।
अति सर्वत्र अहो, वर्जित है, सत्य ही,
कहीं वीरता बनती इससे क्रूरता।
धर्म जन्य प्रतिहिंसा ने क्या-क्या नही
किया, विशेष अनिष्ट शिल्प-साहित्य का ?
लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के
साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाये वे गये,
तोडे गये अतीत-कथा-मकरन्द को
रहे छिपाये शिल्प-कुसुम जो शिला हो,
हे भारत के ध्वस-शिल्प ! स्मृति से भरे,
कितनी वर्षा शीतातप तुम सह चुके !
तुमको देख करुण इस वेश मे,
कौन कहेगा, कब किसने निर्मित किया ?
शिल्पपूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गये ?
किस मिट्टी की ईंटे हैं बिखरी हुई ?

[कानन कुसुम से]

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई कमली के भींगे है सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार

भीग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कवरी-भार,
अरुण किरणसम कर से छू लो, खोलो प्रियतम खोलो द्वार

धूल लगी है पद काँटो से बिधा हुआ, है दुःख अपार,
किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार,

डरो न इतना, धूल धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार
धो डाले है इनको प्रियवर, इन आँखो से आँसू ढार।

मेरे धूलि लगे पैरो से, इतना करो न घृणा प्रकाश
मेरे ऐसे धूल-कणों से कब, तेरे पद को अवकाश?

पैरो ही से लिपटा-लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार,
अब तो छोड नही सकता हूँ पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।

सु-प्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार।

[झरना से]

इड़ा

'किस गहन गुहा से अति अधीर'
झंझा प्रवाह से निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
ले साथ विकल परमाणु-पुंज नभ, अनिल, क्षिति और नीर ?
भयभीत, सभी को भय देता, भय की उपासना मे विलीन,
प्राणी कटुता को बॉट रहा, जगती मे करता अधिक दीन।
निर्माण और प्रतिपद विनाश मे दिखलाता अपनी क्षमता
संघर्ष कर रहा सा जब से, सब से विराग, सब पर ममता।
अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पडा है विषम तीर
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर ?

देखे मैने वे शैल शृंग
जो अचल हिमानी से रंजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुंग
अपने जड गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भंग।
अपनी समाधि मे रहे सुखी बह जाती है नदियॉ अबोध
कुछ स्वेद-बिन्दु उसके लेकर, वह स्तिमित-नयन गत शोक,क्रोध।
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा गति मै वैसी चाहता नही इस जीवन की,
मै तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
जो चूम चला जाता अग-जग, प्रति पग मे कम्पन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

जीवन निशीथ के अन्धकार !

तू नील तुहिन जल-निधि बनकर फैला है कितना वारपार ?
कितनी चेतनता की किरनें, हैं डूब रही ये निर्विकार ?
कितना मादक तम, निखिल भुवन, भर रहा भूमिका मे अभग ?
तू मूर्तिमान हो छिप जाता, प्रतिपल के परिवर्त्तन अनङ्ग ।
ममता की क्षीण अरुण रेखा, खिलती है तुझमे ज्योति कला,
जैसे सुहागिनी की उर्मिल अलको मे कु कुम चूर्ण भला ।
रे चिर-निवास-विश्राम, प्राण के मोह-जलद-छाया उदार
माया-रानी के केश-भार ।

जीवन निशीथ के अन्धकार ।

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन - धूम - सा दुर्निवार,
जिसमे अपूर्ण लालसा कसक, चिनगारी-सी उठती पुकार ।
यौवन - मधुबन की कालिन्दी, बह रही चूम कर सब दिगन्त,
मन-शिशु की क्रीडा-नौकाएँ बस, दौड लगाती है अनन्त ।
कुहुकिनि अपलक-दृग के अजन ! हँसती तुझमे सुन्दर छलना,
धूमिल रेखाओ से सजीव, चंचल चित्रो की नव-कलना ।
इस चिर प्रवास श्यामल पथ मे, छायी पिक-प्राणो की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार ।

नीरव की प्राणों की पुकार

मूर्छित जीवन-सर निस्तरंग, नीहार घिर रहा था अपार,
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी, चलती न रही चंचल बयार।
पीता मन मुकुलित कंज आप, अपनी मधु बूँदे मधुर मौन,
निस्वन दिगन्त मे रहे रुद्ध, सहसा बोले मनु, "अरे कौन?
आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हेमवती छाया?"
तन्द्रा के स्वप्न तिरोहित थे, बिखरी केवल उजली माया।
वह स्पर्श दुलार-पुलक से भर, बीते युग को उठता पुकार
वीचियाँ नाचती बार बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल
वह बोली, "मै हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल?"
नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल।
"मनु मेरा नाम सुनो बाले! मै विश्व-पथिक सह रहा क्लेश।"
"स्वागत! पर देख रहे हो तुम, यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश?
भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा,
इसमे अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।"

× × ×

"मै तो आया हूँ देवि, बता दो जीवन का क्या सहज मोल,
भय के भविष्य का द्वार खोल।"

हँस पडा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बस कर उजडे, कितने ही जीवन मरण शोक,
कितने हृदयो के मधुर मिलन, क्रन्दन करते बन बिरह-कोक ।
ले लिया भार अपने सिर पर, मनु ने यह अपना राज काज,
हँस पडी उषा प्राची नभ मे, देखे नर अपना राज-काज ।
चल पडी देखने वह कौतुक, चचल मलयाचल की बाला,
लख लाली प्रकृति कपोलो मे, गिरता तारा दल मतवाला ।
उन्निद्र कमल कानन मे होती थी मधुपो की नोक झोक,
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक ।

"जीवन निशीथ का अन्धकार
भग रहा क्षितिज के अचल मे, मुख आवृत कर तुमको निहार,
तुम इडे ! उषा सी आज यहाँ, आयी हो बन कितनी उदार !
कलरव कर जाग पडे मेरे, ये मनोभाव सोये विहंग,
हँसती प्रसन्नता चाव भरी, बनकर किरनो की सी तरग ।
अवलम्ब छोड़ कर औरो का, जब बुद्धिवाद को अपनाया
मै बढ़ा सहज, तो स्वयम् बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया ।
मेरे विकल्प सकल्प बने जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख-साधन का हो खुला द्वार ।"

[कामायनी से]

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के ग्रन्थ

नाटक—सज्जन, प्रायश्चित्त कल्याणी-परिणय, एक घूँट, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री।

काव्य—कामायनी, आँसू, लहर, कानन कुसुम, महाराणा का महत्व, प्रेम-पथिक, चित्राधार, करुणालय, झरना।

उपन्यास—कंकाल तितली, इरावती।

कहानी-संग्रह—छाया, आकाशदीप, इन्द्रजाल, प्रतिध्वनि, आँधी।

आलोचना—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

श्री 'निराला' दार्शनिक कलाकार हैं। अद्वैतवाद की कठिन और सुसंस्कृत विचार-धारा का प्रकाशन 'निराला' की कविता में बड़ी सफलता पूर्वक हुआ है। विचार-धारा की जटिलता के कारण इनकी कविता अनेक स्थानों पर जटिल और अस्पष्ट हो गयी है। कहीं-कहीं विचार तारतम्य का पता भी नहीं चलता, पर जिस भाव की व्यंजना 'निराला' की कविता में होती है, वह भाव बडा ही विशद और महत्व-पूर्ण होता है।

'निराला' का पोषण वंग-संस्कृति में हुआ है, अतः वहाँ की कला का प्रभाव पूर्ण रूप से कवि पर है। कवि ने अपने भावों की विरलता के कारण छन्द को भी विरल और मुक्त बना दिया है। पुराने कवि और आचार्यों के काव्य मे यह परिवर्तन असह्य-सा हो गया है, पर

कवि के विचार स्वातन्त्र्य और भाव की उत्कृष्टता ने कवि को पराजित नही होने दिया। माइकेल मधुसूदनदत्त ने 'मेघनाद वध' लिखकर जिस प्रकार बग साहित्य को आन्दोलित कर दिया था उसी प्रकार 'निराला' का मुक्तवृत्त इस समय हिन्दी साहित्यिकों को अस्थिर बना रहा है।

'निराला' के सौन्दर्य दर्शन की दृष्टि बहुत दूर तक जाती है। वह केवल प्रकृति के क्षेत्र मे ही सीमित नही हैं, वह मानव जगत मे भी सौन्दर्य देखती है। जहॉ वह मानव जगत मे सौन्दर्य खोजती है, वहा वह शरीर सौन्दर्य को स्पष्ट करती है। कही कही वह सौन्दर्य नग्न भी हो जाता है पर उसमे अश्लीलता की भावना नही आती। ऐसे पार्थिव सौन्दर्य से केवल कवि की भावना की तृप्ति हो जाती है उसके पीछे कोई स केत नही है। उसने वर्णानात्मक शैली मे भी काव्य सौन्दर्य और ओज प्रदर्शित किया है। इस प्रकार की शैली में तुलसीदास और 'राम की शक्ति पूजा' का नाम लिया जा सकता है।

'निराला' उपन्यासकार और कहानी लेखक भी हैं। इस कला का प्रभाव उनकी कविता पर पडा है। उन्होंने कुछ घटनाओं को लेकर भी काव्य रचना की है। वहॉ वर्णानात्मकता इतिवृत्तात्मक ही होकर रह गयी है।

'निराला' के गीत अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। वे भावना में ही गीतिमय नहीं हैं, पर शब्दावली में भी गीतात्मक हैं। 'निराला' की बहुव्यापी कला हिन्दी में वाछनीय है, यद्यपि उनका मुक्त वृत्त-अभी

तक आलोचकों को सन्तुष्ट और शान्त नहीं कर सका। उनकी दार्शनिकता मुक्त-वृत्त के दोष को बहुत कम कर देती है।

इधर 'निराला' जी ने अपने चारों ओर की परिस्थितियों पर भी दृष्टिपात करते हुए वस्तुवाद पर पूर्णरूप से अपना ध्यान दे दिया है। सम्भवतः वे मार्क्सवाद से भी बहुत प्रभावित हुए हैं। इस प्रकार की रचनाओं में काव्य के आदर्श बहुत पीछे छूट गये हैं। अब केवल सिद्धान्तवाद और वस्तुओ का वास्तविक चित्रण ही 'निराला' जी की कविता का विशेष गुण रह गया है। उनके नवीन काव्य-सग्रह 'अणिमा' और 'कुकुरमुत्ता' इसी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। हिन्दी के अधिकाश आलोचकों को निराला जी का यह परिवर्तन मान्य नहीं है।

बादल राग

झूम झूम मृदु गरज गरज घन घोर
राग अमर ! अम्बर मे भर निज रोर

झर झर झर निर्झर गिरि सर मे,
घर मरु, तरु मर्मर सागर मे,
सरित—तड़ित् गति चकित पवन मे
मन में. विजय गहन कानन मे,
आनन आनन मे रव घोर कठोर
राग अमर , अ बर मे, भर निज रोर

अरे वर्ष के हर्ष
बरस तू बरस बरस रस धार।
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन भैरव ससार !
उथल पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल—
मेरे पागल बादल !

धँसता दलदल,
हँसता है नद खल् खल्
बहता कहना कुलकुल कलकल कलकल !

देख दूख नाचता हृदय
बहने को महा विकल बेकल
इस मरोर से— इसी शोर से—
सघन, घोर, गुरु, गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर ! अम्बर मे भर निज रोर !

———

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !
प्यारे, जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार !
आँखे अलियो सी
किस मधु की गलियों मे फँसी,
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोयी कमल कोरकों में ?
बन्द हो रहा गुंजार

जागो फिर एक बार !
अस्ताचल ढले रवि,
शशि छवि विभावरी मे
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गन्धा जगी,
एक टक चकोर-कोर दर्शन प्रिय,
आशाओ भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रही चन्द्र को चाव से,
शिशिर भार व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए,
आयी कलियों मे मधुर
मद उर यौवन उभार—
जागो फिर एक बार !
पिउ रव पपीहे प्रिय बोल रहे
सेज पर विरह विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन मिलन की
मूँद रहीं पलकें चारु,
नयन जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा भार—
जागो फिर एक बार !
सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय नयन नीर

शयन शिथिल बाहें
भर स्वप्निल आवेश मे,
आतुर उर-वसन मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो,
छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु कुटिल प्रसार कामी केश गुच्छ।
तन मन थक जायँ,
मृदु सुरभि सी समीर मे,
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन मे मन, जी जी मे,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं,
कब से मैं रही पुकार—
जागो फिर एक बार!
उगे अरुणाचल मे रवि
आयी भारती रति कवि कंठ में,
क्षण क्षण मे परिवर्तित
आयी रात,होते रहे प्रकृति पट,
गया दिन, आयी रात,
गयी रात, खुला दिन

ऐसे ही ससार के बीते दिन, पक्ष, मास
वर्ष कितने ही हजार—
जागो फिर एक बार !

———

तुम और मैं

तुम तु ग हिमालय भृ ग, और मै चचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और मै कान्त-कामिनी कविता।
तुम प्रेम—और मै शान्ति
तुम सुरापान-घन-अन्धकार, मै हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल, मै सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान।
तुम योग—और मै सिद्धि
तुम हो रागानुग निश्छल तप, मै शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानव के भाव, और मैं मनोरजिनी भाषा।
तुम नन्दन वन-घन-विटप, और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।
तुम प्राण—और मैं काया
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मै मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कठहार, मैं वेणी काल नागिनी।
तुम कर-पल्लव झङ्कृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी।

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु
तुम हो राधा के मनमोहन, हैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम नभ हो, मैं नीलिमा
तुम शरद सुधाकर कला हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा।
तुम गन्ध कुसुम कोमल पराग मैं मृदुगति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति - प्रेम - जजीर।
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति
तुम रघुकुल - गौरव रामचन्द्र, मैं सीता अचला भक्ति।
तुम हो प्रियतम मधुमास और मै पिक कल कूजन तान।
तुम मदन - पचशर हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान।
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना
तुम चित्रकार घन - पटल श्याम, मैं तड़ित्तूलिका रचना।
तुम रण ताण्डव उन्माद नृत्य, मै युवति मधुर नूपुर ध्वनि।
तुम नाद-वेद ओंकार-सार मैं कवि शृगार-शिरोमणि।
तुम यश हो, मै हूँ प्राप्ति
तुम कुन्द, इन्दु, अरविन्द शुभ्र, तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

[परिमल से]

———

गीति

सखि वसन्त आया।
भरा हर्ष बन के मन
नवोत्कर्ष छाया।

किसलय-वसना नव-वय लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी—
पिक स्वर नभ सरसाया।

लता मुकुल हार गन्ध भार भर
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर
जागी नयनों में वन—
यौवन की माया।

आवृत सरसी उर सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण शस्य अंचल
पृथ्वी का लहराया।

———

भारति, जय, बिजय करे !
कनक—शस्य—कमलधरे

लका पदतल-शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल,
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थ-भरे।
तरु-तृण-वन-लता वसन,
अचल में खचित सुमन,
गगा ज्योतिर्जल - कण
धवल - धार हार गले ।
मुकुट शुभ्र हिम - तुषार,
प्राण प्रणव ओकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख - शतरव - मुखरे ।

———

टूटे सकल बन्ध
कलि के, दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गन्ध ।
रुद्ध जो धार रे
शिखर-निर्झर झरे,
मधुर कलरव भरे
शून्य शतशत रन्ध्र,

रश्मि ऋजु खींच दे
चित्र शत रंग के,
वर्ण - जीवन फले,
जागे तिमिर अन्ध।

———

कैसी बजी बीन ?
सजी मैं दिन-दिन !

हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल माया पुरी,
लीन स्वर-सलिल में मैं बन रही मीन।

स्पष्ट ध्वनि—'आ, धनि, सजी यामिनी भली,
मन्द पद आ बन्द कुंज उर की गली,
मंजु, मधु-गुंजरित कलि दल-समासीन !
देख, आरक्त पाटल-पटल खुल गये,
माधवी के नये खुले गुच्छे नये,
मलिन मन, दिवस-निशि, तू क्यों रही क्षीण ?

[गीतिका से]

राम की शक्ति-पूजा

निशि हुई विगत, नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्द के दृग महिमा - ज्योति - हिरण,
है नहीं शरासन आज हस्त—तूणीर स्कन्द,
वह नही सोहता निविड - जटा - दृढ़ मुकुट - बन्ध,

सुन पड़ता सिंहनाद—रण - कोलाहल अपार,
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी मैं ध्यान धार,
पूजोपरान्त जपते दुर्गा, दशभुजा नाम.
मन करते हुए मनन नामो के गुण ग्राम,

बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन से गहनतर होने लगा समाराधन।
क्रम क्रम से हुए पार राघव के पच दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया अर्द्ध निरलस,

कर - जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ट दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
प्रति जय से खिच खिच होने लगा महाकर्षण,

सचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी पद पर,
जय के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर,
दो दिन निष्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर, जपते हुए नाम,

आठवाँ दिवस, मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शङ्कर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन तप के समारब्ध;

रह गया एक इन्दीवर, मन देखता—पार
प्राय: करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विप्रहर रात्रि, साकार हुई दुर्गा छिपकर,
हँस उठा ले गई पूजा का प्रिय इन्दीवर।

यह अन्तिम जप, ध्यान मे देखते चरण युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल,
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चचल
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,

देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय,
आसन छोड़ना असिद्धि भर गये नयनद्वय:—
"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध!

जानकी ! आह, उद्धार, दुःख, जो न हो सका !"
वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,

बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति हतचेतन
राम मे जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव प्रमन।
"यह है उपाय "कह उठे राम ज्यो मन्द्रित घन—
"कहती थी माता मुझे सदा राजीव नयन।

दो नील कमल है शेप अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"
कह कर देखा तूणीर ब्रह्म-शर रहा झलक,
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक,

ले अस्त्र वामकर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन।
जिस क्षण बँध गया बेधने को दृग दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय —

"साधु, साधु, साधक धीर, धर्म धन धन्य राम !"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम !
देखा राम ने—"सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वाम पद असुर-स्कन्ध पर रहा दक्षिण हरि पर;

ज्योतिर्म्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र सज्जित,
मन्दस्मित मुख लख हुई विश्व की श्री लज्जित,
हैं दक्षिण मे लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बॉयें, रण-रङ्ग-राग,

मस्तक पर शङ्कर। पद पद्मों पर श्रद्धा भर
श्रीराघव हुत प्रणत मन्द स्वर वन्दन कर।
"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!"
कह महाशक्ति राम के वदन मे हुईं लीन।

[राम की शक्ति पूजा से अनामिका]

आत्म-बोध

[१]

जागा, जागा संस्कार प्रबल,
रे गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा, वामा वह न थी, अनल प्रतिमा वह;
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान,
हो गया भस्म वह प्रथम भान,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह।

[२]

देखा, शारदा नील बसना,
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि रशना,
जीवन - समीर - शुचि निःश्वसना, बरदात्री,
वीणा वह स्वय सुवादित स्वर,
फूटीं तर अमृताक्षर - निर्झर,
यह विश्व हस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री।

[३]

दृष्टि से भारती से बँध कर,
कवि उठता हुआ चला ऊपर,
केवल अंबर—केवल अबर फिर देखा;
धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर,
धूसर समुद्र शशि - ताराहर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा।

[४]

चमकी तब तक तारा नवीन,
द्युति नील-नील, जिसमें विलीन
हो गईं भारती, रूप - क्षीण महिमा अब,
आभा भी क्रमशः हुई मंद,
निस्तब्ध व्योम गति रहित छद;
आनद रहा, मिट गए द्वंद्व, बधन सब।

[५]

थे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,
कलि मे सौरभ ज्यो, चित मे स्थित,
अपनी असीमता मे अवसित प्राणाशय,
जिस कलिका मे कवि रहा बद्,
वह आज उसी मे खुली मद्,
भारती - रूप मे सुरभि - छद् निष्प्रश्रय।

[६]

जब आया फिर देहात्म बोध,
बाहर चलने का हुआ शोध,
रह निर्विरोध गति हुई रोध - प्रतिकूला,
खोलती मृदुल दल बद् सकल
गुदगुदा विपुल धारा अविचल
बह चली सुरभि की ज्यो उत्कल, निःशूला—

[७]

बाजीं बहती लहरे कल कल,
जागे भावाकुल शब्दोच्छल,
गूँजा जग का कानन - मडल, पर्वत तल,
सूना उर ऋषियो का ऊना
सुनता स्वर, हो हर्षित दूना,
आसुर भावो से जो भूना, था निश्चल।

[८]

"जागो, जागो, आया प्रभात,
बीती वह, बीती अन्ध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल,
बाँधो बाँधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन,
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल।

[तुलसीदास से]

———

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर !
जो द्वार द्वार फिर कर
भीख माँगता कर फैला कर।
भूख अगर रोटी की ही मिटी,
भूख की जमीन न चौरस पिटी,
और चाहता है वह कौर उठाना कोई,
देखो, उसमें उसकी इच्छा कैसे रोई,
द्वार द्वार फिर कर
भीख मांगता कर फैला कर—

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर !

देश का समाज का
कर्णधार हो किसी जहाज़ का
पार करे कैसा भी सागर,
फिर भी रहता है चलना उसे,
फिर भी रहता है पीछे डर,
चाहता वहाँ जाना वह भी
नहीं चलाना जहाज़, नहीं सागर,
नहीं डूबने का भी जहाँ डर।

तुम्हें चाहता है वह, सुन्दर !

जो द्वार द्वार फिर कर
भीख माँगता कर फैला कर।

[अणिमा से

कुकुरमुत्ता

आया मौसिम् खिला फ़ारिस का गुलाब
बाग़ पर उसका जमा था रोबोदाब.
वहीं गन्दे मे उगा देता हुआ बुत्ता
पहाड़ी से उठा सर ऐंठ कर बोला कुकुरमुत्ता—

"अबे सुन बे, गुलाब,
भूल मत, गर पाई ख़ुशबू, रंगोआब,
ख़ून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपीटलिस्ट,

कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा-घाम,
हाथ जिसके तू लगा
पैर सर पर रख वह, पीछे को भगा,

जानिब औरत की, मैदाने जंग छोड़,
तबेले को टट्टू जैसे तंग तोड़,
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा,
इसलिए साधारणों से रहा न्यारा,

वरना क्या हस्ती है तेरी, पोच तू,
काँटों से ही है भरा, यह सोच तू,
कली जो चटकी अभी,
सूख कर काँटा हुई होती कभी,

रोज़ पड़ता रहा पानी,
तू हरामी ख़ानदानी,
चाहिए तुझको सदा मेहरुन्निसा,
जो निकाले इत्र-रू ऐसी दिशा,

बहाकर ले चले लोगों को, नहीं कोई किनारा,
जहाँ अपना नहीं कोई भी सहारा,
ख्वाब में डूबा चमकता हो सितारा,
पेट में डंड पेलते चूहे, जबाँ हर लफ्ज़ प्यारा,

"देख मुझको, मैं बढ़ा,
डेढ़ बालिश्त और ऊँचा हूँ चढ़ा,
और अपने से उगा मैं,
बिना दाने का चुगा मैं,

कलम मेरा नहीं लगता,
मेरा जीवन आप जगता,
तू है नकली मैं हूँ मौलिक,
तू है बकरा मैं हूँ कौलिक,

तू रँगा और मैं धुला,
पानी मैं तू बुलबुला,
तूने दुनियाँ को बिगाड़ा,
मैंने गिरते से उभाड़ा

तूने रोटी छीन ली, जनखा बना,
एक की है तीन दी मैंने, सुना ?
काम मुझ से ही सधा है,
शेर भी मुझ से गधा है।

चीन मे मेरी नकल, छाता बना,
छत्र भारत का वहीं, कैसा तना।
सब जगह, तू देख ले,
आज फिर रूप, पैराशूट ले।

विष्णु का मै ही सुदर्शन चक्र हूँ—
काम दुनियाँ मे पडा ज्यों वक्र हूँ—
उलट दे, मै ही जसोदा की मथानी,
और भी लम्बी कहानी।

सामने जा, कर मुझे बेडा,
देख कैड़ा—
तीर से खींचा धनुष मै राम का,
काम का—
पडा कधे पर हूँ हल बलराम का।

सुबह का सूरज हूँ मै ही,
चाँद मै ही शाम का।
कलजुगी मै ढाल,
नाव का मै तला नीचे और ऊपर पाल।

मैं ही डाँड़ी से लगा पल्ला,
सारी दुनिया तोलती गल्ला
मुझ से मूँछे, मुझ से कल्ला।
मेरे लल्लू, मेरे लल्ला।

कहे रुपया या अधन्ना,
हो बनारस या न्यवन्ना,
रूप मेरा मै चमकता,
गोला मेरा ही बमकता।

लगाता हूँ पार मै ही,
डुबाता मँझधार मै ही,
डब्बे का मै ही नमूना,
पान मै ही, मै ही चूना।

गर्म पकौड़ी

गर्म पकौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी!

तेल की भुनी,
नमक मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी!

मेरी जीभ जल गई,
सिसकियाँ निकल रहीं,
लार की बूँदें कितनी टपकीं;
पर दाढ़ तले तुझे दबा ही रक्खा मैने

कंजूस ने ज्यो कौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी !

तूने पहले मुझको खीचा,
दिल लेकर फिर कपड़े सा फीचा
तेरे लिए छोडी बह्मन की पकाई

मैंने घी कचौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी !

[कुकुरमुत्ता से]

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के ग्रन्थ

काव्य—अनामिक, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अणिमा, कुकुरमुत्ता।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, निरुपमा, कुल्लीभाट, बिल्लेसुर बकरिहा।

कहानी—लिली, सखी।

निबन्ध—प्रबन्ध पद्म।

आलोचना - रवीन्द्र कविता कानन, चाबुक।

———

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

श्री सुमित्रानन्दन पन्त प्रकृति के सब से सुकुमार कवि हैं। कविता जैसे इनके हृदय में निर्झरिणी के समान फूट निकली है। इनकी चित्रावली इतनी कोमल और मधुर है कि उस पर हृदय एक बार ही मुग्ध हो जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि की लेखनी राजपूत चित्रकला के चित्रकार की बारीक तूलिका है, जिससे वह भाव के बड़े हृदयग्राही चित्रों में रग भरता है। खड़ी बोली के परुष रूप को कोमलतम पदावली देने का श्रेय एकमात्र पन्त को है। शब्द चयन इतना उपयुक्त और भावानुकूल है कि शब्द की ध्वनि में चित्र साकार हो जाता है।

कवि में अनुभूति बहुत ऊँचे दरजे की है। भावों के रूप पर कवि शब्दों का नृत्य उपस्थित करता है। अनन्त सन्देश की व्यञ्जना पन्त की कविता में पद-पद पर लक्षित होती है। प्रकृति का कवि पूर्ण उपासक है। प्रकृति जैसे साकार होकर कविता में बैठ जाती है। दार्शनिक गम्भीरता भावों की सरसता में उपदेश का रूप नहीं लेने पाती। इनका 'मौन निमंत्रण' हिन्दी कविता का अमर वरदान है। इनकी उपमाएँ नवीन और भाव-व्यजक हैं और वे इनकी शैली में रत्नों की भाँति जड़ी हुई हैं।

पन्त ने इधर जीवन की वास्तविकता की ओर भी ध्यान दिया है। अपनी कल्पना के क्षेत्र से निकल कर उन्होंने संघर्षमय जीवन का स्थूल रूप देखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार की कविताओं मे यद्यपि भाव व्यजना तो है, पर पदावली का रूप वैसा कोमल नहीं जैसा पहले की कवि-ताओं में है। इन्होंने अपने नवीन कविता-सग्रह 'ग्राम्या' मे ग्रामीण परि-स्थितियों के चित्रण प्रस्तुत किये हैं। कवि ने अपनी अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से ग्रामीणों के मनोवेगों मे प्रवेश करने की चेष्टा की है। उसने उनके बाह्य रूपों का एवम् उनकी गति-विधियों का तो अत्यन्त सजीव भाषा मे चित्रण किया है, किन्तु वह उनकी स्वाभाविकता और हृदय-स्पदन की ध्वनि को आत्मसात् नहीं कर सका। कवि यहाँ चारण हो गया है, द्रष्टा नहीं। वह ग्रामीण घर मे मेहमान बन कर गया है, वहाँ का वह परिजन नहीं बन सका। 'ग्राम्या' मे कहीं कहीं मातृभूमि के प्रति भक्ति-भावना भी दृष्टिगत होती है। कवि का यह सकेत आह्लादकारक है।

रोग-शैया छोड कर पत जी आजकल प्रवास-पथ पर हैं। वे दीर्घायु हों, यही हमारी कामना है।

पन्त एक युगान्तकारी कवि हैं और किसी भी साहित्य को उन पर गर्व हो सकता है।

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना मे जब ससार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलको पर सुकुमार
विचरते है जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रो से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन?

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर नि श्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार,
न जाने, तपक तड़ित् में कौन,
मुझे इंगित करता तब मौन?

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधु मास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पडते सोच्छ्वास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन,

क्षुब्ध जल-शिखरो को जब वात
सिन्धु मे मथ कर फेनाकार,
बुलबुलो का व्याकुल ससार
बना बिथुरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरो से कर, कौन,
न जाने, मुझे बुलाता मौन ?

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ मे भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल कठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर,
न जाने, अलस-पलक-दल कौन,
खोल देता तब मेरे मौन ?

तुमुल-तम मे जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झंकार
कपा देती तन्द्रा के तार,
न जाने, खद्योतो से कौन।
मुझे पथ दिखलाता है मौन ?

कनक-छाया मे जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपो के बाल
तड़प बन जाते है गुजार,
न जाने, ढुलक ओस मे कौन,
खीच लेता मेरे दृग मौन ?

बिछा कार्यों का गुरुतर भार,
दिवस को दे सुवर्ण-अवसान,
शून्य शैय्या मे श्रमित अपार,
जुड़ाती जब मै आकुल प्राण,
न जाने, मुझे स्वप्न मे कौन,
फिराता छाया-जग मे कौन ?

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रों में गान,
अहे, सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती तुम हो कौन ?

[पल्लव से]

गुंजन

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमें खग अज्ञान।
देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण कोरों में उषा-विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,
प्रिये पल्लव-प्रच्छाय-निवास,
न जाने ले क्या-क्या अभिलाष,
खो गया बाल विहग नादान ?

तुम्हारे नयनो का आकाश,
सजल श्यामल, अकूल आकाश,
गूढ़, नीरव गम्भीर प्रसार
न गहने का तृण का आधार,
बसायेगा कैसे ससार!
प्राण! इसमे अपना ससार!
न इनका ओर-छोर रे पार,
खो गया वह नव-पथिक अजान!

———

मधुवन

आज नव मधु की प्रात,
झलकती नभ पलको मे प्राण!
मुग्ध यौवन के स्वप्न समान,
झलकती, मेरी जीवन-स्वप्न-प्रभात!
तुम्हारी मुख-छबि सी रुचिमान;
आज लोहित मधु प्रात,
व्योम-लतिका मे छायाकार
खिल रही नव-पल्लव-सी लाल,
तुम्हारे मधुर कपोलो पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदु किसलय-जाल!

आज उन्मद मधु प्रात,
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरद समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यो मदिरालस, प्राण!
आज स्वर्णिम मधु प्रात,
व्योम के विजन कुज मे प्राण!
खुल रही नवल गुलाब समान,
लाज के विनत वृन्त पर ज्यो अभिराम
तुम्हारा मुख – अरविन्द सकाम।
प्रिये मुकुलित मधु प्रात,
मुक्त नभ-वेणी मे सोभार
सुहाती रक्त-पलाश समान,
आज मधुवन मुकुलो मे झुक साभार
तुम्हें करता निज विभव प्रदान।

एक तारा

नीरव सन्ध्या मे प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त,
पत्रो के आनत अधरो पर, सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यो वीणा के तारो मे स्वर,
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गो-पथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजग-सा जिह्म, क्षीण।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या-प्रशान्ति को कर गँभीर,
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकाक्षा की तीक्ष्ण धार,
ज्यो वेध रही हो आर-पार।
अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभलीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन,
गंगा के चल जल मे निर्मल, कुम्हला किरणो का रक्तोत्पल,
है मूँद चुका अपने मृदु दल,
लहरो पर स्वर्ण-रेख सुन्दर, पड़ गयी नील, ज्यो अधरो पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर,
तरु-शिखरो से वह स्वर्ण-विहग, उड़ गया, खोल निज पख सुभग,
किस गुहा-नीड मे रे किस मग?
मृदु-मृदु स्वप्नो से भर अचल, नव नील नील, कोमल-कोमल,
छाया तरु-वन मे तम श्यामल!

पश्चिम नभ मे हूँ रहा देख
उज्वल, अमन्द नक्षत्र एक—
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यो मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर मे हो दीपित अमर टेक,
किस स्वर्णाकाक्षा का प्रदीप, वह लिये हुए, किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यो रजत सीप !
क्या उसकी आत्मा का चिर-धन स्थिर, अपलक नयनो का चिन्तन
क्या खोज रहा वह अपनापन ?
दुर्लभ रे, दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल-इच्छा से निर्धन।

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन-विवेक।
चिर आकाक्षा से थर्-थर्, उद्वेलित रे, अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर,
अविरत-इच्छा मे ही नर्तन, करते अबाध रवि, शशि उडुगण,
दुस्तर आकाक्षा का बन्धन,
उडु, क्या जलते प्राण विकल ? क्या नीरव नीरव नयन सजल ?
जीवन निसग रे व्यर्थ-विफल !
एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इसका मूक-भार,
इसके विषाद का रे, न पार !

× × × ×

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नही वह छन्द-बन्ध,
वाह रे ! अनन्त का मुक्त-मीन, अपने असग-सुख मे विलीन,
स्थित निज स्वरूप मे चिर नवीन,
निष्कम्प शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत-जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !
गु जित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन-अन्धकार,
हलका एकाकी व्यथा-भार !
जगमग-जगमग नभ का आँगन, लद गया कुन्द कलियो से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन।

[गु जन से]

बापू के प्रति

तुम मास-हीन, तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि शेष ! तुम अस्थि हीन,
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण ! हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमे असार भव-शून्य लीन,
आधार अमर, होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन !

तुम मांस तुम्हीं हो रक्त-अस्थि—
निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य! तुम्हारा निःस्व-त्याग
है विश्व-भोग का वर साधन।
इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव जग-जीवन,
बीनेगा सत्य-अहिंसा के
ताने-बानों से मानवपन!

सदियों का दैन्य-तमिस्र तूम,
धुन तुमने कात प्रकाश-सूत,
हे नग्न! नग्न-पशुता ढँक दी
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत,
जग पीड़ित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत!
तुमने पावन कर, मुक्त किये
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत!

सुख-भोग खोजने आते सब,
आये तुम करने सत्य-खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज!

जड़ता, हिसा, स्पर्धा मे भर
चेतना, अहिसा नम्र ओज,
पशुता का पकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज!

पशु-बल की कारा से जग को
दिखलायी आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लडने को
सिखलाई दुर्जय प्रेम युक्ति,
वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार-परिणीत उक्ति,
विश्वानुरक्त हे अनासक्त!
सर्वस्व-त्याग को बना भुक्ति!

सहयोग सिखा शासित-जन को
शासन का दुर्वह हरा भार,
होकर निरस्त्र, सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का बल-प्रहार,
बहु भेद-विग्रहो मे खोयी
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार,
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश,
औ' अन्धकार को अन्धकार।

उर के चरखे मे कात सूक्ष्म
युग-युग का विपय-जनित विपाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद
रँग-रँग खद्दर के सूत्रो मे,
नव जीवन आशा, स्पृहा, ह्लाद,
मानवी-कला के सूत्रधार!
हर दिया यन्त्र-कौशल-प्रवाद।

जडवाद जर्जरित जग मे तुम
अवतरित हुए आत्मा महान
यन्त्राभिभूत युग मे करने
मानव-जीवन का परित्राण,
बहु छाया-बिम्बो मे खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान,
फिर रक्त-मास प्रतिमाओ मे
फूँकने सत्य से अमर प्राण!

ससार छोड़ कर ग्रहण किया
नर-जीवन का परमार्थ-सार,
अपवाद बने, मानवता के
ध्रुव नियमो का करने प्रचार,

हो सार्वजनिकता जयी, अजित !
तुमने निजत्व निज दिया हार,
लौकिकता को जीवित रखने
तुम हुए अलौकिक, हे उदार !

मगल-शशि-लोलुप मानव थे
विस्मित ब्रह्माड-परिधि विलोक,
तुम केन्द्र खोजने आये तब
सब मे व्यापक, गत राग-शोक,
पशु पक्षी पुष्पो से प्रेरित
उद्दाम-काम जन - क्रान्ति रोक,
जीवन इच्छा को आत्मा के
वश मे रख, शासित किये लोक !

था व्याप्त दिशावधि ध्वान्त भ्रान्त,
इतिहास विश्व-उद्भव प्रमाण,
बहु हेतु, बुद्धि जड वस्तु वाद,
मानव-सस्कृति के बने प्राण,
थे राष्ट्र, अर्थ, जन साम्य-वाद
छल सभ्य-जगत के शिष्ट-मान,
भू पर रहते थे मनुज नही,
बहु रूढ़ि-रीति प्रेतो-समान—

तुम विश्व-मच पर हुए उदित,
बन जग-जीवन के सूत्रधार,
पट पर पट उठा दिये मन से,
कर नर-चरित्र का नवोद्धार;
आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि-पल के दृश्यों को सँवार,
गा-गा एकोहं बहुस्याम,
हर लिये भेद, भव-भीति-भार।

एकता इष्ट निर्देश किया,
जग खोज रहा था जब समता,
अन्तर-शासन चिर राम-राज्य,
औ' बाह्य आत्महन-अक्षमता,
हो कर्म निरत जन, राग-विरत,
रति-विरति-व्यतिक्रम भ्रम-ममता,
प्रतिक्रिया-क्रिया साधन-अवयव,
है सत्य सिद्ध, गति-यति क्षमता।

ये राज्य, प्रजा, जन साम्य-तन्त्र
शासन-चालन के कृतक यान,
मानस, मानुषी, विकास-शास्त्र
हैं तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान,

भौतिक विज्ञानो की प्रसूति
जीवन - उपकरण - चयन - प्रधान,
मथ सूक्ष्म-स्थूल जग, बोले तुम—
मानव मानवता का विधान !

साम्राज्यवाद था कस, बन्दिनी
मानवता, पशु - बलाक्रान्त,
शृंखला - दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद शक्ति-भ्रान्त,
कारागृह मे दे दिव्य जन्म
मानव-आत्मा को मुक्त-कान्त,
जन-शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद-प्रणत, शान्त

कारा की सस्कृति विगति, भित्ति
बहु धर्म-जाति-गत रूप-नाम,
बन्दी जग-जीवन, भू-विभक्त,
विज्ञान-मूढ़ जन प्रकृति-काम,
आये तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति, सत्य, मा भै,
जय ज्ञान-ज्योति, तुमको प्रणाम !

[युगान्त से]

भारत माता

भारत माता
ग्राम वासिनी।
खेतो मे फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गगा यमुना मे आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

दैन्य जडित अपलक नत चितवन,
अधरो मे चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर मे
प्रवासिनी।

तीस कोटि सतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित निरस्त्र जन
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित निर्धन,

नत मस्तक
तरुतल निवासिनी !
स्वर्ण शस्य पर पद तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी।
चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !
सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी।

———

चमारों का नाच

अ र र र.........   ..

मचा खूब हुल्लड़ हुडदग,
घमक घमाघम रहा मृदग,
उछल कूद, बकवाद, झड़प मे
खेल रही खुल हृदय उमग
यह चमार चौदस का ढग।
ठनक कसावर रहा ठनाठन,
थिरक चमारिन रही छनाछन,
झूम झूम बॉसुरी करिगा
बजा रहा बेसुध सब हरिजन,
गीत नृत्य के सॅग है प्रहसन!
मजलिस का मसखरा करिगा
बना हुआ है रग विरगा,

भरे चिरकुटो से वह सारी
देह, हँसाता खूब लफंगा,
स्वाँग युद्ध का रच बेढगा !
बँधा चाम का तवा पीठ पर,
पहुँचे पर बद्धी का हंटर,
लिए हाथ मे ढाल, टेढ़ही
टुमुहा सी बलखाई सुन्दर—
इतराता वह बन मुरलीधर !
जमींदार पर फबती कसता
बाह्मन ठाकुर पर है हँसता

बातो मे वक्रोक्ति काकु औ,
श्लेष बोल जाता वह सस्ता,
कल कॉटा को कह कलकत्ता।
घमासान हो रहा है समर,
उसे बुलाने आये अफसर,
गोला फट कर आँख उड़ा दे
छिपा हुआ वह, उसे यही डर,
खौफ न मरने का रत्ती भर।
'काका' उसका है साथी नट,
गदके उस पर जमा पटापट,

उसे टोकता—गोली खाकर
आँख जायगी, क्यो बे नटखट ?
भुन न जायगा भुनगे सा झट ?
'गोली खाई ही है !' 'चल हट !'
'कई भाँग की !' 'वा मेरे भट'

सच काका ' भगवान राम
सीसे की गोली 'रामधे ?' विकट !
गदका उस पर पडता चटपट।
वह भी फौरन बद्धी कस कर
काका को देता प्रत्युत्तर,

खेत रह गये जब सब रण मे
तब वह निधडक गुस्से मे भर,
लडने को निकला था बाहर !
लट्टू उसके गुन पर हरिजन,
छेड़ रहा वशी फिर मोहन,

तिरछी चितवन से जन-मन हर
इठला रही चमारिन छन् छन्
ठनक कसावर बजता ठन ठन !
ये समाज के नीच अधम जन,
नाच कूद कर बहलाते मन,

वर्णों के पद दलित चरण ये
मिटा रहे निज कसक औ कुढ़न,
कर उच्छृंखलता, उद्धतपन।
अर र र... ... ..
शोर हँसी हुल्लड़, हुड़दंग
धमक रहा धाग्डांग मृदंग,
मार पीट, बकवास, झड़प में
रंग दिखाती महुआ - भंग,
यह चमार चौदस का ढंग!

[ग्राम्या से]

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के ग्रन्थ

काव्य—पल्लव, वीणा, ग्रन्थि, गुंजन, युगान्त, पल्लविनी, युगवाणी, ग्राम्या।

नाटक—ज्योत्स्ना।

कहानी—पाँच कहानियाँ

—०—

नवीन धारा (उत्तर)

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्री रामकुमार वर्मा

श्री भगवतीचरन वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा

हिन्दी साहित्य के करुण रस की सब से अधिक सफल कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा हैं। उन्होंने जीवन के सम्पूर्ण करुण चित्रों को देखा है और उन्हे अपने आँसुओं से लिखा है। जिस प्रकार मीरा ने 'गिरिवर गोपाल' के सभी मोहक चित्रों को देख कर, उनसे अपने नेत्रो मे बसने की प्रार्थना की थी, उसी प्रकार महादेवी ने भी आध्यात्मिक विरह मे 'नभ की दीपावलियों' को बुझने का आदेश देकर अपने 'देव' से 'तम के परदे' मे आने की याचना की है।



महादेवी की प्रकृति भी वियोगिनी है और वह कवयित्री के भावजगत मे सम्पूर्ण रूप से व्यापक है। महादेवी करुण विचारो की पीठिका पर अपना जीवन मुरझाये हुए फूल की भाँति रख देती हैं। उसी मे उनके काव्य का समस्त सौन्दर्य है। विरह के सकेत मे जीवन की बडी करुण अभिव्यक्ति है। उनके जीवन में यदि सुख है तो यही विरह का सन्तोष। इस सरस अनुभूति ने उनकी

कविता को बहुत सजीव बना दिया है। भावना के उत्कर्ष मे उनकी कल्पना गौण हो जाती है और वे पार्थिव जगत से उठ कर एक भावात्मक जगत की निवासिनी बन जाती हैं।

इनकी कविता मे रहस्यवाद का भी सकेत है जो 'सान्ध्य गीत' मे स्पष्ट है, पर उस रहस्यवाद की अभिव्यक्ति व्यापक नही है। अतः भावना मे जहॉ महादेवी रामकुमार से ऊपर उठ जाती हैं, वहॉ आध्यात्मिक सकेत मे सकुचित हो जाती ह। महादेवी चित्रकार भी हैं। उनका नवीनतम कविता-सग्रह 'दीपशिखा' उनके कवि और चित्रकार का अनोखा सम्मिलन है।

करुण की इस कवयित्री की अनुभूति मे ससार का दुख भी सुख मे परिणत हो जाता है। महादेवी भाव-सपन्न हैं। बगाल के अकाल पर लिखी गई इनकी कविता अनुपम है।

मेरा राज्य

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारो की जाली
उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली,

शशि को छूने मचली सी
लहरो का कर-कर चुम्बन
बेसुध तम की छाया का
तटनी करती आलिगन।

अपनी जब करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता जब
सूखा अवनी का अचल

पल्लव के डाल हिँडोले
सौरभ सोता कलियो मे,
छिप-छिप किरणे आतीं जव
मधु से सीची गलियो मे।

आँखों मे रात बिता जब
विधु ने पीला मुख फेरा
आया फिर चित्र बनाने
प्राची मे प्रात चितेरा,

कन-कन मे जब छायी थी
वह नव यौवन की लाली,
मै निरधन तब आयी ले
सपनो से भर कर डाली।

जिन चरणो की नख-ज्योती
ने हीरकजाल लजाये,
उन पर मैंने धुँधले-से
आँसू दो चार चढ़ाये।

इन ललचाई पलको पर
पहरा जब था व्रीडा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का!

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोष हुये है
मोती बरसा कर रीते;

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली !
प्राणों का दीप जला कर
करती रहती दीवाली !

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में !

चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा
हो जायेगा तेरा ही
पीडा का राज्य अँधेरा !

— —

प्रतीक्षा

जिस दिन नीरव तारो से
बोली किरणो की अलके,
सो जाओ अलसाई है
सुकुमार तुम्हारी पलके'

जब इन फूलो पर मधु की
पहली बूँदे बिखरी थी,
आँखे पकज की देखी,
तुहार भरी सी,

दीपकमय कर डाला जब
जल कर पतग ने जीवन,
सीखा बालक मेघो
नभ के आँगन मे रोदन,

उजियारी अवगुठन मे
विधु ने रजनी को देखा,
तब से मै ढूँढ़ रही हूँ
उनके चरणो की रेखा।

मै फूलो मे रोती, वे
बालारुण मे मुस्काते,
मै पथ में बिछ जाती हूँ,
सौरभ मे वे उड़ जाते।

वे कहते हैं, 'उनको मै
अपनी पुतली मे देखूँ।'
यह कौन बता जायेगा,
'किसमे पुतली को देखूँ?'

मेरी पलको पर रातें
बरसा कर मोती सारे,
कहतीं, 'क्या देख रहे हैं,
अविराम तुम्हारे तारे?'

तम ने इन पर अजन से
बुन-बुन कर चादर तानी,
इन पर प्रभात ने फेरा,
आकर सोने का पानी।

इन पर सौरभ की साँसे
लुट-लुट जातीं दीवानी,
यह पानी मे बैठी है,
बन स्वप्न-लोक की रानी।

कितनी बीती पतझारें !
कितने मधु के दिन आये !
मेरी मधुमय पीड़ा को,
कोई पर ढूँढ़ न पाये !

झिप-झिप आँखें कहती हैं,
'यह कैसी है अनहोनी ?
हम और नहीं खेलेंगी
उनसे यह आँख-मिचौनी।'

अपने जर्जर अंचल में
भर कर सपनों की माया,
इन थके हुए प्राणों पर
छायी विस्मृति की छाया।

+ + +

मेरे जीवन की जागृति !
देखो फिर भूल न जाना—
जो वे सपना बन आवें,
तुम चिरनिद्रा बन जाना !

[नीहार से]

रश्मि

चुभते ही तेरा अरुण बान,
बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर-से सजल गान।

इन कनक रश्मियो मे अथाह,
लेता हिलोर तम - सिन्धु जाग,
बुद्‌बुद् से बह चलते अपार,
उसमे विहगो के मधुर राग,

बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज रेख थी कुहर म्लान।

नव कुन्द-कुसुम-से मेघ-पुँज,
बन गये इन्द्र - धनुषी वितान,
दे मृदु कलियो की चटक, ताल,
हिम-बिन्दु नचाती तरल प्राण,

धो स्वर्णप्रात मे तिमिर-गात,
दुहराते अलि निशि मूक तान।

सौरभ का फैला केश-जाल,
करतीं समीर परियाँ विहार,
गीली केसर, मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार,

मर्मर का मधुसगीत, छेड़
देते है, हिल पल्लव अजान!

फैला अपने मृदु स्वप्न-पख,
ई नींद निशि-क्षितिज पार,
अधखुले दृगो के कज-कोष
पर, छाया विस्मृति का खुमार,

रँग रहा हृदय ले अश्रु हास,
यह चतुर चितेरा सुधि-विहान!

————

उलझन

अलि! कैसे उनको पाऊँ?

वे आँसू बन कर मेरे,
इस कारण ढुल ढुल जाते,
इन पलको के बन्धन मे,
मै बाँध-बाँध पछताऊँ।

मेघो मे विद्युत्-सी छवि
इनकी, बनकर मिट जाती
आँखो की चित्र-पटी मे,
जिसमे मैं आँक न पाऊँ।

वे आभा बन खो जाते,
शशि-किरणो की उलझन में,
जिसमे उनको कण-कण मे,
ढूँढ़ूँ, पहिचान न पाऊँ।

सोते सागर की धडकन,
बन लहरो की थपकी से,
अपनी यह करुण कहानी,
जिनमें उनको न सुनाऊँ।

वे तारक - बालाओं की,
अपलक चितवन बन आते,
जिसमे उनकी छाया भी,
मैं छू न सकूँ , अकुलाऊँ ।

वे चुपके से मानव मे,
आ छिपते उच्छ्वासे बन,
जिसमे उनको साँसो मे,
देखूँ पर रोक न पाऊँ ।

वे स्मृति बन कर मानस मे,
खटका करते हैं निशि दिन,
उनकी इस निष्ठुरता को,
जिसमे मैं भूल न जाऊँ ।

[रश्मि से]

———

गीत

प्रथम

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?
शिथिल, शिथिल तन, थकित हुए कर
स्पन्दन भी भूला जाता उर,
मधुर कसक सा आज हृदय में
आन समाया कौन
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?
झुकती आतीं पलकें निश्चल,
चित्रित, निद्रित - से तारक चल,
सोता पारावार दृगों में
भर - भर लाया कौन ?
आज क्यो तेरी वीणा मौन ?
बाहर घन - तम, भीतर दुख - तम
नभ मे विद्युत, तुझ मे प्रियतम,
जीवन पावस - रात बनाने
सुधि बन छाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

—— —

द्वितीय

बीन भी हूँ, मै तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण मे,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन मे,
प्रलय मे मेरा पता, पद-चिह्न जीवन मे,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन मे,
कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ।
नयन मे जिसके जलद, वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण मे वह निठुर दीपक हूँ
फूल को उर मे छिपाये, विकल बुलबुल हूँ
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ
दूर तुम से हूँ, अखड सुहागिनी भी हूँ।
आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिम-जल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के,
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर मे,
नील घन भी हूँ, सुनहली दामिनी भी हूँ।
नाश भी हूँ मै, अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी,
तार भी आघात भी झङ्कार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी
अधर भी हूँ, और स्मिति की चाँदनी भी हूँ।

तृतीय

तुम मुझ मे प्रिय ! फिर परिचय क्या ?
तारक मे छवि, प्राणो मे स्मृति
पलकों मे नीरव पद की गति,
लघु उर मे पुलको की संसृति,
भर लायी हूँ तेरी चचल
और करूँ जग मे सचय क्या ?

तेरा मुख सहास अरुणोदय
परछाई, रजनी विषादमय,
यह जागृति, वह नींद स्वप्नमय,
खेल-खेल, थक-थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या ?

तेरा अधर-विचुम्बित प्याला
तेरी ही स्मिति मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूँ क्यो मेरे साकी !
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

रोम-रोम मे नन्दन पुलकित,
साँस साँस मे जीवन शत शत,
स्वप्न स्वप्न मे विश्व अपरिचित,
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या निष्क्रिय लय क्या ?

हारूँ तो खोऊँ अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन,
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन,
भर लाऊँ सीपी मे सागर,
प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या ?

चित्रित तू, मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू, मैं स्वर सगम,
तू असीम, मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया मे रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

चतुर्थ

मैं बनी मधुमास आली !
आज मधुर विषाद की चिर करुण आयी यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
उड़ आयी री दृगों मे
सजनि कालिन्दी निराली !
रजत स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
सुख-पिक ने अचानक मदिर पचम तनल
बह चली निश्वास की मृदु,
वात, मलय निकुज-पाली !

सजल रोमो में बिछे हैं पाँवडे मधुस्नात से,
आज जीवन के निमिप भी दूत हैं अज्ञात से,
क्या न अब प्रिय की बजेगी,
मुरलिका मधु राग वाली?
मैं बनी मधुमास आली।

[नीरजा से]

सान्ध्य गीत

प्रथम

प्रिय! सान्ध्य गगन,
मेरा जीवन

यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुख भीने स्वप्न रँगीले घन,

साधो का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन
सन्ध्या का नभ से मूक मिलन—
यह अश्रुमती हँसती चितवन!

लाता भर श्वासो का समीर,
जग से स्मृतियो का गन्ध धीर,
सुरभित हैं जीवन-मृत्यु-तीर,
रोमो में पुलकित कैरव वन

———

द्वितीय

शलभ मैं शापमय वर हूँ!
किसी का दीप निष्ठुर हूँ!
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृगार माला,
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अगार मेरी रंगशाला,
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ!
नयन मे रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होगी,
प्राण मे कैसे बसाऊँ?
कठिन अग्नि-समाधि होगी,
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ!
हो रहे झर कर दृगो से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल,

पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल,
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ!

कौन आया था न जाना
स्वप्न मे तुमको जगाने,
याद में उन अँगुलियो के
हैं मुझे पर युग बिताने,
रात के उर मे दिवस की चाह का शर हूँ!

शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा,
प्राण आकुल के लिए
सगी मिला केवल अँधेरा,
मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ!

[सान्ध्यगीत से]

दीप-शिखा

प्रथम

प्राण हँस कर ले चला

प्राण हँस कर ले चला जब
चिर व्यथा का भार।
उभर आये सिंधु-उर मे
बीचियों के लेख,
गिरि कपोलों पर न सूखी
आँसुओं की रेख।
धूलि का तब से न रुक पाया कसक-व्यापार!
शान्त दीपों में जगी नभ—
की समाधि अनन्त,
बन गये प्रहरी, पहन
आलोक तिमिर, दिगन्त।
किरण-तारों पर हुए हिम-विन्दु बन्दनवार।
स्वर्ण शर से साध के
घन ने लिया उर वेध,

स्वप्न विहगों को हुआ
यह क्षितिज मूक निरोध।

क्षण चले करने क्षणों का पुलक से शृंगार।

शून्य के निश्वास ने दी
तूलिका सी फेर,
ज्वार शत शत रंग के
फैले धरा को घेर।

बात अणु अणु में समा रचने लगी विस्तार।

अब न लौटाने कहो
अभिशाप की वह पीर,
बन चुकी स्पन्दन हृदय में
वह नयन मे नीर।

अमरता उसमे मनाती है मरण-त्यौहार।

छाँह मे उसकी गये आ,
शूल फूल समीप,
ज्वाल का मोती सँभाले
मोम की यह सीप।

सृजन के शत दीप थामे, प्रलय-दीपाधार।

———

द्वितीय

सब बुझे दीपक जला लूँ

सब बुझे दीपक जला लूँ।
घिर रहा तम आज दीपक-रागिनी अपनी जगा लूँ!
क्षितिज कारा तोड़ कर अब
गा उठी उन्मत्त आँधी,
अब घटाओ मे न रुकती
लास तन्मय तड़ित् बाँधी,
धूलि की इस वीण पर मैं तार हर तृण का मिला लूँ!
भीत तारक मूँदते दृग
भ्रान्त मारुत पथ न पाता,
छोड़ उल्का अक नभ मे
ध्वंस आता हरहराता,
उँगलियों की ओट में सुकुमार सब सपने बचा लूँ!
लय बनी मृदु वर्त्तिका
हर स्वर जला बन लौ सजीली,
फैलती आलोक सी
झंकार मेरी स्नेह गीली,
इस मरण के पर्व को मैं आज दीपाली बना लूँ!

देख कर कोमल व्यथा को
आँसुओ के सजल रथ में,
मोम सी साधे बिछा दीं,
थीं इसी अंगार पथ में
स्वर्ण हैं वे मत कहो अब क्षार में उनको सुला लूँ!
अब तरी पतवार लाकर
तुम दिखा मत पार देना,
आज गर्जन मे मुझे बस
एक बार पुकार लेना!
ज्वार को तरणी बना मैं इस प्रलय का पार पा लूँ!
आज दीपक राग गा लूँ।

तृतीय

आसुओं के देश में

आँसुओ के देश में!
जो कहा रुक-रुक पवन ने
जो सुना झुक झुक गगन ने
साँझ जो लिखती अधूरा,
प्रात रँग पाता न पूरा
आँक डाला वह दृगों ने एक सजल निमेष में!

अतल सागर में जली जो,
मुक्त झंझा पर चली जो,
जो गरजती मेघ-स्वर मे,
जो कसकती तडित-उर मे,
प्यास वह पानी हुई इस पुलक के उन्मेष मे!
दिशा नहीं प्राचीर जिसको,
पथ नहीं जञ्जीर जिसको,
द्वार हर क्षण को बनाता,
सिहर आता, बिखर जाता,

स्वप्न वह हठ कर बसा इस साँस के परदेश मे!
मरण का उत्सव अजर है,
गीत जीवन का अमर है,
मुखर कण का सग मेला,
पर चला पथी अकेला,

मिल गया गन्तव्य पग को कण्टकों के वेष मे!
वह बताया झर सुमन ने,
वह सुनाया मूक तृण ने,
वह कहा बेसुध पिकी ने,
चिर पिपासित चातकी ने,
सत्य को दिव कह न पाया था अमिट सन्देश मे!

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
रुदन में सुख की कथा है,
विरह मिलने की प्रथा है,
शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष मे!
आँसुओ के देश में!

——

चतुर्थ

मोम सा तन घुल चुका

मोम सा मन घुल चुका अब दीप सा मन जल चुका है।
विरह के रगीन क्षण ले,
अश्रु के कुछ शेष कण ले,
बरुनियो मे उलझ बिखरे स्वप्न के सूखे सुमन ले,
खोजने फिर शिथिल पग
निश्वास दूत निकल चुका है!
चल पलक है निर्निमेषी,
कल्प पल सब तिमिरि वेषी,
आज स्पन्दन भी हुई उर के लिए अज्ञात देशी!

चेतना का स्वर्ण जलती
वेदना में गल चुका है!
झर चुके तारक-कुसुम जब
रश्मियों के रजत-पल्लव,
सन्धि में आलोक-तम की क्या नहीं नभ जानता तब

पार से, अज्ञात बासन्ती
दिवस-रथ चल चुका है!
खोल कर जो दीप के दृग
कह गया "तम में बढ़ा पग।"
देख श्रम-धूमिल उसे करते निशा की साँस जगमग,

क्या न आ कहता वही
'सो, याम अन्तिम ढल चुका है।'
अन्तहीन विभावरी है,
पास अंगारक-तरी है,
तिमिर की तटिनी क्षितिज की कूल रेख डुबा भरी है।

शिथिल कर से सुभग
सुधि पतवार आज बिछल चुका है!
अब कहो सन्देश है क्या?
और ज्वाल विशेष है क्या?
अग्नि-पथ के पार चन्दन चाँदनी का देश है क्या?

एक इंगित के लिये
शत बार प्राण मचल चुका है !

[दीपशिखा से]

श्रीमती महादेवी वर्मा के ग्रन्थ

काव्य—नीहार, रश्मि नीरजा, सान्ध्य गीत, यामा, दीपशिखा ।

गद्य—अतीत के चल चित्र, स्मृति की रेखाएँ, शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य ।

श्री रामकुमार वर्मा

ये हिन्दी के अध्ययनशील कवि है। इन्होने कबीर के रहस्यवाद का विस्तृत अध्ययन किया है और रहस्यवाद का सिद्धान्त अगरेजी और फारसी साहित्य के आधार पर भी हृदयगम किया है। इनके इस अध्ययन का परिणाम इनकी कविता पर इतना अधिक पडा है कि ये विशुद्ध रहस्यवाद के एक सफल कलाकार हो गये हैं। रहस्यवाद की सूक्ष्म और विविध प्रवृत्तियो का परिचय श्री रामकुमार की 'चित्ररेखा' और 'चन्द्रकिरण' से पाया जा सकता है।



इनका शैशव बुन्देलखड के पार्वतीय प्रदेश मे व्यतीत हुआ था। अत इनकी कविता मे प्रकृति का नैसर्गिक जो चित्र है, उसकी वास्तविकता का महत्व बहुत अधिक है। इनकी काश्मीरी-यात्रा से प्रकृति का चित्र इनकी कविता मे निखर आया है। अत रसस्यवाद के क्षेत्र मे ये अपनी भावना की अभिव्यक्ति का प्रधान आधार प्रकृति के दैवी चित्र को ही मानते है। रूपरेखाएँ और 'चन्द्रकिरण' मे प्रकृति जैसे सजीव हो उठी है।

रामकुमार एकाकी नाटककार भी हैं। इनके इन नाटकों में पात्रों का आन्तरिक संघर्ष विशेष कुशलता के साथ चित्रित किया गया है। इस संघर्ष के साथ इनकी कविता प्रसादजी की कविता के समान कुछ जटिल अवश्य हो गई है, पर कुमार की कविता में अभिनयात्मक शैली होने के कारण वह अधिक रोचक हो गई है। 'शुजा' नामक कविता में यही सौन्दर्य है। कल्पना के क्षेत्र में कुमार की कुशलता में दो निर्णय हो ही नहीं सकते।

कल्पना और अनुभूति का यह कवि हमारे यहाँ विशुद्ध रहस्यवाद का कवि है।

———

ये गजरे तारों वाले

इस सोते ससार बीच
जग कर, सज कर, रजनी-बाले !
कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारो वाले ?

मोल करेगा कौन !
सो रही है उत्सुक आँखे सारी,
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन मे अपनी निधियाँ न्यारी।

निर्झर के निर्मल जल मे
ये गजरे हिला हिला धोना,
लहर लहर कर यदि चूमे तो,
किंचित बिचलित मत होना।

होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित,
लहरो ही मे लहराना,
'लो मेरे तारो के गजरे'
निर्झर स्वर में यह गाना।

यदि प्रभात तक कोई आकर
तुमसे हाय ! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप मे,
बिखरा देना सब गजरे।

———

समय शान्त है

समय शान्त है, मौन तपस्वी-सा तप मे लवलीन,
रात्रि मुझे तो दिन ही है, केवल दिनकर से हीन,
नभ के पद पर धरा पड़ी है, यह है चिर अभिशाप,
तारे अपना हृदय खोल दिखलाते हैं सन्ताप।
प्रेयसि ! जग है एक
भटकता शून्य स-तम अज्ञात
एक ज्योति-सी उठो,
गिरो पथ - पथ पर बनकर प्रात।
मै तुमसे मिल सकूँ, यथा उर से सुकुमार दुकूल,
समय-लता मे खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल,
मेरे बाहु-पाश से वेष्टित हो यह मृदुल शरीर।
चारो ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।
नभ के उर मे विमल नीलिमा
शयित हुई सकुमार,
उसी भाँति तुमसे निर्मित हो,
मेरा उर-विस्तार।

यात्रा का अन्त

मैं तुम से मिल गया प्रिये !
यह है जीवन का अन्त,
इसी मिलन का गीत कोकिले।
गा जीवन - पर्यन्त,

सुमन मधुप को बुला-बुला कर,
देंगे यह सम्वाद—
'कलियाँ कल जायेंगी लेकर,
इसी मिलन की याद।'

प्राची के बिखरे सब बादल,
बदल - बदल कर रूप,
किरण - साँस मे बतला देंगे,
मेरा मिलन अनूप।

इस ससार - विविर मे है
अति लघु प्राणो का वास,
सुख - दुख के दो कोण,
उन्ही में रुदन और है हास।

इसके परिमित पल मे हैं—
इस जीवन का उपहास,
एक दृष्टि मे जन्म दूसरी—
मे है करुण प्रवास।
यह ससार शिशिर है—
तुम हो विश्वाकार वसन्त,
मै तुमसे मिल गया प्रिये
यह है यात्रा का अन्त।

[रूप राशि मे]

———

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत?
जीवन की इस प्रथम हार मे,
कैसे देखूँ जीत?
उषा अभी सुकुमार, क्षणो मे—
होगी वही स-तेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज,
कह सकता है कौन, देखता हूँ मै भी चुपचाप।
किसका गायन बने, न जाने मेरे प्रति अभिशाप?

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का ?—अज्ञात।
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र मे रात ?

और कॉच के टुकडे बिखरा
कर, क्यों पथ के बीच
भूले हुए पथिक-शशि को, दुख
देता है नभ नीच ?

यही निराशामय उलझन है, क्या माया का जाल ?
यहॉ लता मे लिपटा रहता, छिपकर भीषण व्याल !

देख रहा हूँ बहुत दूर पर
शान्ति रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मै अशान्त-तम
ही सकता हूँ देख,

कॉप रही स्वर अनिल-लहर
रह रह कर अधिक सरोष,
डर कर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष।

कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप,
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप !

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम

दया कहाँ है ? दूषित उसको
करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष,

धूल हाय ! बनने ही को खिलता है फूल अनूप,
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप ।

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है,
मेरा भिक्षुक हाथ
मेरे निकट शिलाएँ पाकर
मेरा श्वास प्रवाह,
बड़ी देर तक गुंजित करती
रहती मेरी आह,

'मर ! मर ' शब्दों में हँस कर, पत्ते हो जाते मौन,
भूल रहा हूँ स्वयम्, इस समय मैं हूँ जग में कौन ?

वह सरिता है चली जा रही—
है चचल अविराम,
थकी हुई लहरो को देते
दोनो तट विश्राम,
मै भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठो याम
नही सुना मेरे भावो ने,
'शान्ति शान्ति' का नाम।
लहरो को अपने अगो मे तट कर लेता लीन,
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन



कंकाल

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का-
थोड़ा सा छवि - जाल
इस छवि मे ही छिपा हुआ है,
वह भीषण ककाल
उस पर इतना गर्व ? अरे,
इतने गौरव का गान,
थोड़ी-सी मदिरा है, उस पर,
सीखा है बलिदान

मदमाती आँखो वाले, ओ ! ठहर अरे नादान !
एक फूल की माला है, उस पर इतना अभिमान !
इस यौवन के इन्द्र धनुष मे
भरा वासना रग,
काले बादल की छाया मे
सजता है यह ढग,
और उमगो मे भूला है,
बन कर एक उमग.
एक टूटता-स्वप्न आँख मे
कहता उसे 'अनग'—
वह 'अनग' जो धूल कणो मे भरता है उन्माद
जर्जरपन मे ले आता है नव यौवन की याद।
और (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन विलास,
हँसती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास,
कलित कपोलो की कोरो मे—
भर ऊषा का रग,
चचल तीर चला चितवन का,
करती थी भ्रू-भग,
मैने देखा था उसमे, गिरते-फूलो का हास,
सन्ध्या के काले अम्बर मे मिटता अरुण विकास !

दूर ! दूर !! मत भरो कान मे
वह मतवाला राग,
यही चाहते हो, मै कर लूँ
इस जग से अनुराग ?
गिरते हुए फूल से कर लूँ
क्या अपना शृंगार ?
करने को कहते हो मुझसे,
निश्चल शव से प्यार ?
गिन डालूँ कितनी आहो मे अपने मन के भाव ?
पथराई आँखो से कैसे देखूँ विष का स्राव ?
अरे पुण्य की भाषा मे तुम
क्यो कहते हो पाप ?
क्षणिक सुखो की नीवो पर
क्यो उठा रहे सन्ताप ?
सुमन-रग से किस आशा पर
करते अमर विहार ?
ओस-कणो मे देख रहे—
सारे नभ का शृङ्गार ?
प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत मे छिपी हुई है इस जीवन की हार ।
मृत्यु वही है, जिसमे होती,
जीवित क्षण की हार ,

वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं
वर्तमान के पार?
मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश विलास
झाँक शुष्कता रही चोर-सी,
हृदय-सुमन के पास
जीवन आभा बनती जाती दिन-दिन अधिक मलीन
अन्धकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन।
भूल रहा हूँ पाकर स्मृति की
चंचल एक हिलोर
देख रहा हूँ मैं जीवन के
किसी दूसरी ओर,
हाँ वह यौवन-लाली करती
जीवन - सुमन - विहार,
मादकता में धूल कणों से—
भी करती थी प्यार,
शुष्क पत्तियों से करती थी आलिंगन का हाव,
मतवाले बन कर आते थे, मन के नीरस भाव।
काले भावों की रजनी में
आशा का अभिसार,
मैंने छिप कर देखा था,
देखा था कितनी बार!

उनका आना और समुत्सुक—
मेरे मन का प्यार,
दोनो भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार,
किन्तु, मुझे क्या मिलता था ? क्या बतला दूँ उपहार ?
शीतल ओठो का मुरझाया-सा चुम्बन उस बार।
उत्सुकता के बदले मे यह
भीषण अत्याचार।
घृणा घृणा शत जिह्वा से
डसती थी बारम्बार,
आँखो की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु-पाश का शक्ति-हीन हो
गिरना धनुषाकार,
यह था क्या उपहार अरे इस जीवन का उपहार !
फूल-रूप क्यो रखता है यह धूल-रूप ससार ?
छविमय कहते हो जिसको
जिसमे है रूप अपार,
अरे ! भरा है उसमे कितने,
पापो का ससार !
पहिन रहे हो हार,
उसी मे झूल रही है हार ,

पुण्य मान कर क्यो करते हो
इन पापो से प्यार ?
मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार,
धूल समझ कर छोड चुका हूँ यह कलुषित ससार ।
[अभिशाप से]

गीत

प्रथम

देव, मै अब भी हूँ अज्ञात ?
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात ।
तुमसे परिचित होकर भी मै
तुमसे इतनी दूर ।
बढना सीख सीख कर मेरी
आयु बन गयी क्रूर ।
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात । देव मै .
यह ज्योत्स्ना तो देखो,नभ की
बरसी हुई उमग,
आत्मा-सी बन कर छूती है
मेरे व्याकुल अंग ,
आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात ।
देव, मै अब भी हूँ अज्ञात ?

द्वितीय

फैला है नीला आकाश।
सुरभि, तुम्हे उर मे भरने को
फैला है इतना आकाश!
तुम हो एक साँस सी सुखकर,
नभमडल है एक शरीर,
यह पृथ्वी मधुमय यौवन है,
तुम हो उस यौवन की पीर!
पथ बतला देना तारक—
दीपक का दिखला नवल प्रकाश,
सुरभि, तुम्हे उर मे भरने को
मै फैलूँगा बन आकाश।

———

तृतीय

आज केतकी फूली,
नभ के उज्वल तारो से हो
निर्मित जग मे भूली।
आज केतकी फूली।
अन्तरिक्ष का बिखरा वैभव पृथ्वी मे सचित है,
इसीलिए यह कलिका नभ-छवि से भू पर कुसुमित है,

पवन चूम जाता है, मेरी इच्छा से परिचित है,
इस मिलाप मे ही सारे जीवन का सुख अंकित है।
मैंने आज प्रेम की उँगली से
वह चिर छवि छू ली।
आज केतकी फूली।

चतुर्थ

. पर तुम मेरे पास न आये।
देखो, वह खिल उठी जुही
यौवन के विकसित अंग छिपाये,
निराकार प्रेमी समीर
आया है सौरभ-साज सजाये,
मैंने कितनी बार साँस के
शत सन्देश स्वयम् दुहराये,
तारे हैं अपने दृग-तारों
की धाराओं पर तैराये,
......पर तुम मेरे पास न आये।
कोकिल की कोमल पुकार ने
पुष्प-शरीर वसन्त बुलाये,
उषा-बाल की प्रभा देख
बादल ने कितने वेष बनाये?

मैंने कितने रूप रखे, पर
क्या न तुम्हें वे कुछ भी भाये ?
जीवन में साँसों की गति से
कितनी हूँ मैं व्यथा छिपाये !
. पर तुम मेरे पास न आये ।

———

पंचम

इस भाँति न छिप कर आओ ।
अन्तिम यही प्रतीक्षा मेरी ,
इसे भूल मत जाओ । इस भाँति
रजनी के विस्तृत नभ को जब मैं दृग में भर लेता,
एक एक तारे को कितने भावयुक्त कर देता !
उसी समय खद्योत एक आता वातायन द्वारा
मैं क्या समझूँ, मुझे मिला उज्ज्वल संकेत तुम्हारा !
प्रियतम ! मेरी स-तम निशा ही को
शशि-किरण बनाओ । इस भाँति
वह उपवन फूला, पर उसमें बोलो शान्ति कहाँ है ?
सुमन खिले, मुरझाये, सूखे, गिरे, वसन्त यहाँ है ?

नहीं मृत्यु ने यहाँ परिधि में बाँधा है जीवन को,
सुख तो सेवक बन रक्षित रखता है दुख के घन को।

प्रियतम! शाश्वत जीवन बन
मन में आज समाओ। इस भाँति...

यह तुम्हारा हास आया

यह तुम्हारा हास आया।

इन फटे से बादलों में
कौन सा मधुमास आया?
आँख से विचलित व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों में वेदना के व्यूह—
ये कैसे रहे हैं?
एक उज्ज्वल तीर सा रवि—
रश्मि का उल्लास आया। यह .

आह! वह कोकिल न जाने—
क्यों हृदय को चीर रोयी?

एक प्रतिध्वनि सी हृदय मे,
क्षीण हो हो हाय ! सोयी !
किन्तु, इससे आज मै—
कितने तुम्हारे पास आया !
यह तुम्हारा हास आया।

[चित्ररेखा से]

परिचय

मै तुम्हारे नूपुरो का हास।
चरण मे लिपटा हुआ,
करता रहूँ चिर वास।
मै तुम्हारी मौन गति मे,
भर रहा हूँ राग,
बोलता हूँ यह जताने,
हूँ तुम्हारे पास।
चरण-कम्पन का तुम्हारे
हृदय मे मृदु भाव—
कर रहा हूँ मै तुम्हारे
कठ का अभ्यास।
हूँ तुम्हारे आगमन का
पूर्व लघु सन्देश,

गति रुकी, तो मौन हूँ,
गति मे अखिल उल्लास।
मै चरण ही मे रहूँ,
स्वर के सहित सविलास,
गति तुम्हारी ही बने,
मेरा अटल विश्वास!

———

किरण-कण

एक दीपक-किरण-कण हूँ।

धूम्र जिसके क्रोड़ मे है, उस अनल का हाथ हूँ मै
नव-प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं,
सिद्धि पाकर भी तपस्या साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

व्योम के उर मे अगाध भरा हुआ है जो अँधेरा
और जिसने विश्व को दो बार क्या, सौ बार घेरा,
उस तिमिर का नाश करने के लिए मै अखिल प्रण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

शलभ को अमरत्व देकर, प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का सन्देश लेकर, रात्रि के उर मे समाया,
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

———

जिज्ञासा

नीरव निशा, हो श्रान्त तुम ?
तिमिर चारों ओर है ? ना
भाग्य है मेरा यही,
क्योंकि तुम चुप हो, यही
विचलित व्यथा मैंने सही।
वह उडा खद्योत आशा के
प्रकाशित विन्दु-सा,
और शीतल साँस-सी
यह वायु चुप होकर बही,
मै तुम्हारे पास हूँ,
फिर भी बनी हो क्लान्त तुम,
नीरव निशा, हो श्रान्त तुम।
क्या विरह की अवधि मानूँ
यह समस्त विभावरी ?
यह गगन-गगा समझ लूँ
आँसुओ से है भरीं ?

ये निशा के प्रहर मानो
वेदना के बन्धु हैं
हा रहे प्रति क्षण भयानक
और भीषण सुन्दरी !
मौन होना है कहो,
अब भी रहोगी शान्त तुम ?
नीरव निशा, हो श्रान्त तुम।

प्रार्थना

मेरे जीवन मे एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप
मै तुम मे प्रतिबिम्बित होऊँ,
तुम मुझ मे होना ओ अनूप !
राका शशि अपनी रश्मि-माल
जब रजनी को पहनाता हो,
अथवा जब फूलो के तन से
प्रेयसि सुगन्धि का नाता हो,
जब विमल ऊर्मि मे लघु बुद्बुद्
उल्लास-पीन लहराता हो,

जब तरु से लतिका का अन्तर
मधु-ऋतु मे कम हो जाता हो,
उस समय हँसो तो बरस पडे
ओसो मे विश्वो का स्वरूप,
मै तुम मे प्रतिविम्बित होऊँ,
तुम मुझ मे होना ओ अनूप ।

[चन्द्र किरण मे]

———

चट्टान

दृढ़ खड़ी, कडी, टेढ़ी अखण्ड,
चट्टान अटल जड़-सी विषण्ण ।

भू-मण्डल मे निर्भीक वायु-मण्डल का शून्यान्तर बिगाड़,
झाड़ो के झुण्ड चपेट भूमि पर बैठी है बन कर पहाड़,
चुपचाप, हज़ारो लाखो मन का पिण्ड बनी भू-खंड फाड़,
भू-खडो की दुर्द्धर्ष शक्तियाँ उसको क्या पाईं उखाड़ ?

ना, परिवर्तन को रोक—
अमर जीवन का लेकर स-बल मत्र,
चट्टान खड़ी है—आदि सृष्टि—
निर्माण देख, भीषण, स्वतंत्र ।

वर्षाओ का आघात—बीच मे खड़ी हुई निर्भीक भ्रान्त
जैसे चामुण्डा—और प्रहारो को करते-से चर-ध्वान्त।
सब थके-एक चट्टान विश्व को सुदृढ शक्ति सपूर्ण नान्त,
केन्द्रित दिग्कोण चतुर्भुज सी, शासन करती-सी अखिल प्रान्त!
यह महाशक्ति सौन्दर्य,-विजय-सौदर्न्य —
अटलता का विधान।
मै था मुरझाया फूल—आज,
बन गया शक्ति का बीज ज्ञान॥

———

तेरी अटूट कोरो मे मेरे उलझ गये है नयन कोर।
तेरी उदारता पर चढकर नभ तक फैले ये नयन-छोर॥
तेरी दृढ़ता मे आज सुदृढ़ बन गई भावना की हिलोर।
तेरी अखडता देख, देखता हूँ उर मे दृढता विभोर॥
अब कहाँ पराजय, कहाँ हीनता,
कहाँ क्लैव्य है, कहाँ हार।
ओ शिलाखंड! मै कठिन भाग्य की—
तरह बन गया दुर्निवार॥

———

हाँ, एक बात! क्या तुझ मे कोई सिसक रही अभिशाप-शप्त
वह कौन? अहल्या! ओ नारी! तू कहाँ रही यो सिक्त तप्त!!

क्या वीतराग की एक किरण, खा गई प्रेम की किरण-सप्त !
क्या इस कठोरता के विराग मे आन्दोलित है उर विलप्त ?

किसका विराग ? किसका क्रन्दन ?
ओ ठहर विश्व के व्यथित पाप !
तू आज शिला बन कर नारी के—
आँसू भी पी गया आप ?

प्रात वेला का भ्रम, मुनि का नियमित क्रम, नारी तन अनुपम।
ये तीनो जैसे एक दूसरे के विद्रोही क्रूर विषम !!

यह विधि का गुरु षड्यन्त्र, और निर्जन, निद्रित एकाकी तम।
फिर एक अधम का अन्ध मदन, सरला नारी का यौवन-भ्रम ?

किसका है यह अपराध ! अरे गोतम !
चुप, अपना हृदय थाम !
यह नारी है वचिता, दया की पात्री
निश्चय ही अकाम !!

पर टेढ़ा सा पाषाण-रूप मे आह ! निकल ही गया शाप।
यह शिला-आज अपराधी की केवल बन कर रह गई माप।

केवल कठोरता ! मौन रुदन ! पत्थर के भीतर चिर विलाप।
फिर विधि-विधान यह रहा कि रवि का वह झेले प्रतिदिन प्रताप।

वर्षा भी निज आघातों से दे
इसी शिला को तोड़-फोड़।
हिम कुंठित कर दे उस नारी के
कंकालों के जोड़-जोड़॥

कोमलता की प्रतिहिंसा! यह है मेरे सम्मुख शिला-खंड!
निर्बलता अपनी निष्ठुरता में बनी आज अतिशय प्रचंड!
उस पर अब वर्षा के प्रचंड अभिशाप हिमोपल-खंड-खंड—
बन कर गल जाते हैं, अपने ही दंडों से पा रहे दंड।
ऐसी यह है चट्टान आज।
अपने कण-कण में रही जाग,
इसमें न एक भी अंश रुदन है,
इसमें है परिव्याप्त आग!!
क्या इसमें है परिव्याप्त आग? तुझमें भी जागी यही आग!!
मैं दृढ हूँ—सागर उठे, देखना निकल न आए कहीं झाग?
मैं हूँ अखंड, कायरता का मुझमें न कहीं भी लगा दाग।
आकर चाहे मुझको देखो, भू मण्डल का प्रत्येक भाग!!
मैं अपने प्रण को प्रकट शक्ति से—
चिर वर्षों तक हूँ प्रचन्ड!
दृढ़ खड़ी, कड़ी, टेढ़ी अखण्ड,
चट्टान अटल जड़ सी विषण्ण!!

साधना-संगीत

आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

आरती चूमे कि खिंचता जाय रंजित क्षितिज-घेरा,
धूम-सा जलकर भटकता उड चले सारा अँधेरा,
हो शिखा स्थिर प्राण के प्रण की अचल निष्कप रेखा,
हृदय मे ज्वाला, हँसी मे दीप्ति की हो चित्र-लेखा,

श्वास ही मेरी विनय की भारती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

यह हँसी मन्दिर बने मुस्कान-क्षण हो द्वार मेरे,
मै मिलूँ या तुम मिलो, ये मिलन-पूजा-हार मेरे !
आज बन्धन ही बनेगे, मुक्ति के अधिकार मेरे,
क्यो न मुझमे अवतरित होकर रहो अवतार ! मेरे ?

प्राण-वशी बार-बार पुकारती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

विरह

जो विरह मे मिट चुका
उससे मिलन की बात क्या हो !
एक तृण के सूखते उर की न कोई प्यास पूछे,
फाँस सी पल पल कसकती कौन उर की साँस पूछे।
जब कि हलकी फूँक से ही,
बुझ गई दीपक-शिखा वह !
जो रही जीवित जलन मे कौन उसका हास पूछे ?
रात के हाथो मे पली फिर—
प्राण-घातक प्रात क्या हो ! जो विरह मे०—
एक क्षण चितवन न पायी, फिर मधुर मुस्कान कैसी ?
मुख उठाया ही नहीं इस ओर, तब पहचान कैसी ?
मै तुम्हारे द्वार पर—
गिनता रहा अपनी उसाँसे—
देख कर मुझको न देखा, यह तुम्हारी बान कैसी ?
जो स्वय निश्शेष हो—
उस पर कहो आघात क्या हो ! जो विरह मे०
विकल हो लहरे गुथी तुमने न सुलझाया उन्हे क्यो ?
फूल मुरझाए, अधिक जीवन नही भाया उन्हें क्यो ?

रीझ मे भी रीझ का—
अभिनय कहो क्यो कर रहे हो ?
भूल सब बाते गया था, छेड कर गाया उन्हें क्यो ?
जब कि तुम आये नहीं तब
प्रिय मिलन की रात क्या हो ?
जो विरह मे मिट चुका,
उससे मिलन की बात क्या हो ?

[सकेत मे]

विश्ववंद्य बापू

क्रियाशील दृढ़ हाथ और,
मुख पर मृदुतम मुस्कान।
कठिन साधना से निकली हो,
जैसे सिद्धि महान !
एक तेज - जिसमे कितने
सूर्यों का अभ्युत्थान
एक मत्र-जिससे अभिशापो—
से निकले वरदान।
स्वर जो विश्व-ताप की सब अनुभूति लिए है साथ।
है स्वतन्त्रता के प्रदीप सा पराधीन के हाथ ॥

ये सब जैसे है विभूतियाँ
जो लेकर अनुराग ।
बापू ! सज्जित करने आई,
आज तुम्हारा त्याग ।।
वही त्याग जो वैभव के
स्वप्नावसान का ज्ञान—
बन कर जागृत है जीवन के—
क्षण क्षण मे सुख मान ।

विश्व-सपदा छोटी है, इतना महान है त्याग ।
पद-वदन के लिए तुच्छ लगता है स्वर्ण-पराग ।।

कर्मयोग के साधन तुम हो
निर्बल के बल राम ।
कितने कठो मे गूँजा है
आज तुम्हारा नाम ?
विश्ववद्य तुमने खोजे है,
निष्प्राणो मे प्राण ।
किया तुम्ही ने जीवन मे,
जीवन का नव निर्माण ।

छिद्रो मे सगीत भरा, कर दिया उन्हे स्वर-द्वार ।
तुमने लघु सकेत किया, गूँजा सारा ससार ।।

बापू ! तुमको पाकर युग का,
धन्य हुआ इतिहास ।
आज तुम्हारा वर्तमान ही
है भविष्य की साँस ।
जिस पथ पर गति शील—
तुम्हारी छाया का आकार ।
है उस पथ पर ही स्वतन्त्रता,
का मगल मय द्वार ।
सुन पडता है वीर गीत सुन पडता है जय-नाद ।
विजय सामने ही है बापू दो तुम आशीर्वाद ॥

[स्फुट]

श्री रामकुमार वर्मा के ग्रन्थ

काव्य— चित्तोड की चिता, अजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण, निशीथ, सकेत (अप्रकाशित)

नाटक— पृथ्वी की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, पुरस्कार ।

सग्रह— कबीर पदावली, हिन्दी गीतिकाव्य ।

गद्य-काव्य — हिम-हास ।

आलोचना— साहित्य समालोचना, कबीर का रहस्यवाद, हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सत कबीर ।

————

श्री भगवती चरण वर्मा

ये छायावाद के अधिक स्पष्ट कवि हैं। यद्यपि इनकी कविता में आध्यात्मिक संकेत नहीं है, तथापि उसमें जीवन के रहस्य बहुत व्यापकता के साथ स्पष्ट किये गये हैं। जीवन का जितना भी उन्मेष, जितना भी वेग और आतंककारी जितना भी रौद्र रूप है, वह सभी अपने भीषण और नग्न रूप में भगवतीचरण की कविता में सजीव हो उठा है। जीवन में आग लगाने की प्रवृत्ति संसार को प्रलय-धार से बहा देने की भावना इनकी कविता में अनेक बार मिलती है, क्योंकि जीवन और संसार दोनों ही छल और प्रवंचना है। 'मानव' और 'बादल' कविताएँ इस भाव को स्पष्टता के साथ चित्रित करती हैं। अतः संसार को मजबूती के साथ पकड़नेवाले, कवि भगवतीचरण आध्यात्मिक कवि हैं ही नहीं।

भगवतीचरण गीति काव्य में भी सफल हुए हैं। 'प्रेम संगीत' में प्रेम की अभिव्यक्ति बड़ी हृदयग्राही है। संसार की सारी पहेली इसी 'प्रेम-संगीत' में सुलझी हुई है। प्रेमी अपनी प्रेमाभिव्यक्ति में इस संसार की कोमल और परुष भावनाओं को एक साथ स्पर्श कर हमें प्रेम से

आन्दोलित कर देता है। इनकी प्रिये भौतिक संसार की स्त्री है वह इनकी प्रेमिका है। उनमें कोई आध्यात्मिक संकेत खोजना व्यर्थ है। इन्होंने अपने दूसरे काव्य संग्रह 'मानव' में जीवन के वस्तुवाद की व्याख्या की है तथा जनवाद की ओर अभिरुचि दिखलायी है।

भगवतीचरण जी सफल कहानी-लेखक भी है। किसी घटना को किस प्रकार हृदयग्राही बनाना चाहिये, इस बात को ये खूब जानते हैं। 'नूरजहाँ की कब्र' कविता में नूरजहाँ का पिछला जीवन एक कहानी की तरह स्पष्ट हो आता है। प्रबन्धात्मक में वर्मा जी सफल हैं, किन्तु एक बात है—उस प्रबन्धात्मकता में वर्मा जी दार्शनिकता का पुट देने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ यह दार्शनिकता कुछ अधिक हुई कि कवि उपदेशक बन जाता है और उसकी कृति का सारा महत्व खो जाता है। वह दार्शनिकता 'खैयाम' से मिलती जुलती है।

जहाँ वे 'दर्शन' का दर्शनमात्र कराते है, वहाँ वे सफल कवि है।



मेरी आग

निज उर की वेदी पर मैंने महा यज्ञ का किया विधान,
समिधि बना कर ला रक्खे है चुन-चुन कर अपने अरमान,
अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान.
और चढाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान,

अभिमन्त्रित करता है उसको इन आहो का भैरव राग,
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश से मेरी आग।

आमन्त्रित है यहाँ कसक से क्रीडाएँ करने वाले,
हृदय-रक्त से निज वैभव से प्यालो को भरने वाले,
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तडप-तडप मरने वाले,
अन्धकार के महा उदधि मे अन्धो से तरने वाले,

फूल, चढाने वे आये है जिनमे मिलता नहीं पराग,
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग।

इस उत्सव मे आन जुडे है हँस-हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटा कर पल मे तन-मन-धन खोने वाले,
उर की लाली से इस जग की कालिख को धोने वाले,
हँसने वालो के विषाद पर जी भर कर रोने वाले,

आज आँसुओ का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग,
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ । महानाश सी मेरी आग ।

यहाँ हृदय वालो का जमघट पीडाओ का मेला है,
अर्घ्यदान है अपनेपन का, यह पूजा की बेला है,
आज विस्मरण के प्रांगण मे जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहाँ प्राण पर वह अपने ही खेला है,

फिर न मिलेगे ये दीवाने, फिर न मिलेगा इनका त्याग,
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग !

लपटे हो विनाश की जिनमे, जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापो के अगारो मे झुलस रहा हो विभव विधान,
अरे क्रान्ति की चिनगारी से तडप उठे वासना महान,
उच्छ्वासो के धूम्र-पुज से ढक जावे जग का अभिमान,

आज प्रलय की वह्नि जल उठे, जिसमे शोला बने विराग,
जल उठ । जल उठ । अरी धधक उठ । महानाश सी मेरी आग !

नूरजहाँ की क़ब्र पर

तुम रजकण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न विहार !
किस आशा से देख रहे हो उस नभ पर प्रतिवार ?
कि जिससे टकराता था कभी
तुम्हारा उन्नत भाल ?
सुनते हैं, तुमने भी देखा था वैभव का काल,
धूल मे मिले हुए ककाल
तुम्हारे सकेतो के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल,
तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगडते बनते थे भूपाल,
किन्तु है आज कहानी शेष,
प्रबल है, प्रबल काल की चाल ।
एक समय पर्वत मालाओ की प्रतिध्वनि के साथ
तुम रोयी थी प्रथम नमा कर, उस भू पर निज माथ,
कि जिस पर था सगर्व आरूढ़
तुम्हारा गुरुतर भार ।
जीवन के पहले ही क्षण मे वह जीवन की हार
पतन ही है जीवन का सार

तुम्हारा प्यारा शैशव काल
स्वर्ग की सुषमा का आगार
ज्ञान के धुँधलेपन मे शून्य
किलकने हँसने के दिन चार,
भाग्य की देवि भाग्य का तुम्हे
वही तो था सारा उपहार!

देखे थे सुख-मयी कल्पना के शत-शत प्रासाद,
पुलकित नयनो से देखा था तुमने वह आह्लाद
कि जिसको फिर पाने के लिए
रही रोती दिन रात
क्षणिक प्रभा थी, था भविष्य का अन्धकार अज्ञात,
आह बचपन के सुखद प्रभात!

दूसरो के हँसने के साथ
पुलक उठता था सारा गात,
छलकता था नयनो मे नीर
किसी पर यदि होता आघात,
वासना, तृष्णा, ईर्ष्या, डाह
कहो क्या थे पहले भी ज्ञात?

लाड-प्यार में तुम बढ़ती थीं—कहाँ ? किधर ? किस ओर ?
अरे, विश्व के उस वैभव का मिलता ओर न छोर
कि जिसके एक अंश तक की
न ले पायीं तुम थाह।
बहता है संसार वासना का है तीव्र प्रवाह
देवि, यह जीवन ही है चाह।

तुम्हारे आशा के सुख-स्वप्न
तुम्हारे वे उमंग उत्साह
तुम्हारी मधुर मन्द मुसकान,
तुम्हारे भोले भाव अथाह,
हो गये क्षण भर में ही लोप,
हँसी बन गयी पलक में आह।

उस दिन पीले हुए तुम्हारे जब हल्दी से हाथ,
बँधी प्रणय के उस बन्धन में जब तुम पति के साथ
कि जिसमें बँधता है संसार
किस प्रतीक्षा के साथ।
भय, संकोच, प्रेम, लज्जा थे, हँसते थे रतिनाथ,
दृष्टि नीचे, था ऊँचा माथ।

प्रेम का प्रथम प्रणय-चुम्बन
पाश डाले थे कोमल हाथ,
और वह आलिंगन, कम्पन,
कोकिला थी ऋतुपति के साथ।
मन्द स्वर में सगर्व सोल्लास
कहा था तुमने 'जीवन-नाथ।'

प्रेम किया था उस चातक सा, बुझी न जिसकी प्यास।
अरे, सुधा के उन प्यालों का है विचित्र इतिहास
कि जो होठों से लगते ही
छलक जाते हैं हाय।
इच्छाएँ है प्रबल किन्तु है असफल सकल उपाय,
भटकते हैं हम सब असहाय।

परिस्थितियों की विस्तृत परिधि,
प्रेरणाओं का है समुदाय,
गिरे नीचे नीचे दिन-रात,
क्षणिक है सारे क्षीण उपाय,
सुधा के हैं थोड़े से बूँद
हाथ हैं अस्थिर, चंचल हाय।

अरुण कपोलो मे रस था, अधरो मे अमृत-बोल !
तुम्हे ज्ञान भी था उन ऑखो की मदिरा का मोल ?
कि जिनकी कुछ रेखाएँ लाल
हृदय उठता है कॉप !
बना भृकुटियो का बॉकापन यौवन का अभिशाप,
शेष है अब तक वही प्रलाप !

किन्तु वह सौरभ और पराग—
प्रेम का गर्व प्रेम का ताप
और निश्छल निर्मल अनुराग !
किया था तुमने कैसे पाप ?
कि वह सारा पावन वैभव
उड गया नभ पर बनकर भाप !

आह ! भाग्य से हुई तुम्हारी उस दिन ऑखे चार,
जिस दिन देखा था सलीम ने वह अपना ससार
कि जिस अज्ञात खड मे उसे
शान्ति थी अथवा भ्रान्ति ?
अनायास तुम कॉप उठी थीं, थी वह प्रथम अशान्ति
देवि । यह जीवन ही है क्रान्ति ।

दास हो अथवा हो सम्राट्
विश्व भर की स्वामिनि है भ्रान्ति,
परिस्थितियो का है यह चक्र
जिसे हम सब कहते है क्रान्ति,
भाग्य की देवि । भाग्य की भेंट
सदा से है जीवन की शान्ति ।

तृष्णा । तृष्णा । आह रक्त से रंजित तेरे हाथ ।
विश्व खेलता है पागल सा उन पापो के साथ
कि जिनके पीछे ही है लगा
विषम रौरव का जाल ।
मिटा भाग्य सिन्दूर तुम्हारा, रिक्त हो गया भाल,
प्रेम ही बना प्रेम का काल ।

आह अनजान शेर अफ़गन ।
तुम्हारा सुख-साम्राज्य विशाल–
कौन सा था वह गुरु-अपराध ?
—नष्ट हो समा गया पाताल ।
प्रेम का था कैसा उपहार ।
मृत्यु बन गयी गले की माल ।

तुम रोयी थीं भाग्य हँसा था था अद्भुत व्यवहार
'आह शेर अफगन !' गूँजी थी वह सकरुण चीत्कार
कि जिससे हृदय रक्त मिलकर
बना नयनों का नीर।
तुम समझी थीं रुक न सकेगी यह सरिता गम्भीर
किन्तु था निर्बल हृदय अधीर।

आह, वह पतिघातक का प्यार।
वासना का उन्माद गँभीर।
कसक का भी होता है अन्त
क्षणिक है सदा वेदना तीर,
कठिन है कठिन आत्म-बलिदान
कठिन है ये मनसिज के वीर।

एक परिधि है उद्‌गारों की, परिमित है परिताप।
मिट जाती है हृदय-पटल से वह स्मृति छाया आप
कि जिसका पाँच वर्ष तक देवि
किया तुमने सन्मान।
उस अशान्ति की हलचल को करने को अन्तर्धान
किया आकांक्षा का आह्वान।

बनीं उस दिन सम्राज्ञी और
हुआ तुमको तृष्णा का ज्ञान,
आह। वह आत्म-समर्पण, हार।
उसी दिन लोप हो गया मान।
उसी दिन तुमने पल मे किया
पतन रूपी मदिरा का पान।

'और। और।' की ध्वनि प्रतिध्वनि है 'और। और। कुछ और
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालो के दौर
कि जिनके पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास।
झुक-झुक पडते है पागल से, आह क्षणिक उल्लास—
आत्म-विस्मृति का यह उपहास।

महत्वाकाक्षा। उफ उन्माद।
हुआ जिसको तेरा आभास,
उठा ऊँचे बन कर उत्साह,
गिरा नीचे बन कर नि.श्वास।
पराजय की सीढ़ी है विजय
अरे भ्रम है, भ्रम है विश्वास।

धरा धसकती थी, असह्य था देवि ! तुम्हारा भार,
उन कोमल चरणों के नीचे था समस्त संसार
कि जिनमें चुभते थे तत्काल
फूल भी बन कर शूल !
साम्राज्ञी थीं, किन्तु दैव था क्या तुम पर अनुकूल ?
यह तो थी जीवन की गोद।

शक्ति की स्वामिनि ! भोग-विलास
सदा है सुख वैभव का मूल
किन्तु खुल गयी अचानक आँख
प्रकृति ही है इसके प्रतिकूल,
आजकल ! आह क्षणिक ऐश्वर्य
हुए सुख-स्वप्न सभी निर्मूल !

उच्च शिखर था आकाश का नीचे था अज्ञात !
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिसके चक्कर में पड़कर
विजय बन जाती व्यंग।
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनंग
आह दीपक पर मुग्ध पतंग !

अचानक पल भर मे ही देवि !
लोप हो गया सकल रस-रग,
झुक गया माथ, गिर पडा मुकुट,
व्यर्थ हो गया भृकुटि-सारग,
गिराया जहाँगीर को किन्तु
गिरीं तुम भी तो उसके सग !

'गिर सकती हो !' क्या इसका भी था तुमको अनुमान ?
एक कल्पना की छाया है यह सारा अभिमान
कि जिससे प्रेरित होकर देवि !
बनीं तुम निपट निशक ।
उठते गिरते ही रहते है राजा हो या रक !
अमिट हैं ये विधिना के अक ।

अरे दो ही हिचकी की बात—
हृदय मे समा गया आतक,
रुक गयी जहाँगीर की श्वास,
झुक गयी मद की चितवन बंक,
बना जीवन का भार
और जीवन ही बना कलक ।

जो कि सिहर उठते थे भय से, देख चढे भ्रू-चाप
उनकी ही आँखो मे देखा तुमने वह अभिशाप
कि जिसके व्यग हृदय मे हाय।
चुभ गये बन कर तीर।
बदला ही तो था बदला है देवि! सदा बेपीर!
आग मे कब होता है नीर ?

अरी सम्राज्ञी! वह साम्राज्य
मिट गया बन कर उष्ण समीर
और उच्छृखल ऊँचा भाल
झुका नीचे बन कर गम्भीर
नाश की स्वामिनि! तुम बन गयीं
नाश के लिए नितान्त अधीर!

ऐ रजकण के ढेर! तुम्हारा है विचित्र इतिहास!
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन!
वह अजान खड ही यह लो आज तुम्हारा सदन
कभी उत्थान, कभी है पतन।

वासनाओं का यह ससार
भयानक भ्रम का है बन्धन,
और इच्छाओं का मडल
आदि से अन्त रुदन है रुदन,
एक अनियन्त्रित हाहाकार!
इसी को कहते है जीवन।

[मधुकण से]

गीत

प्रथम

कुछ सुन ले, कुछ अपनी कह ले!
जीवन-सरिता की लहर-लहर
मिटने को बनती यहाँ, प्रिये!
सयोग क्षणिक! फिर क्या जाने
हम कहाँ और तुम कहाँ, प्रिये?
पल-भर तो साथ-साथ बह लें,
कुछ सुन ले, कुछ अपनी कह लें!
आओ, कुछ ले लें औ दे लें!
हम हैं अजान पथ के राही,
'चलना' जीवन का सार, प्रिये!

दुःसह है, अति दुःसह—
एकाकीपन का भार, प्रिये !
पल-भर हम-तुम मिल हँस खेलें
आओ कुछ ले लें औ दे लें !
हम तुम अपने में लय कर लें !
उल्लास और सुख की निधियाँ,
बस इतना इनका मोल प्रिये !
करुणा की कुछ नन्हीं बूँदें,
कुछ मृदुल प्यार के बोल, प्रिये !
सौरभ से अपना उर भर लें,
हम तुम अपने में लय कर लें !
हम-तुम जी भर खुल कर मिल लें !
जग के उपवन की यह मधु-श्री,
सुषमा का सरस वसन्त प्रिये !
दो साँसों में बस जाय और
ये साँसें बनें अनन्त, प्रिये
मुरझाना है, आओ खिल लें,
हम-तुम जी भर खुलकर मिल लें !

————

द्वितीय

मेरे जीवन की रानी !
मेरे जीवन मे आओ !
मधु ऋतु की पागल कोकिल !
मधु मे पचम भर जाओ !
ए उर के मीठे सपने !
विस्मृति के फूल लुटाओ !
उन्माद भरी तन्मयता !
अपना आसव भर लाओ !

मै बनूँ प्रेम का कम्पन,
तुम उसकी मधुर कहानी,
मेरे जीवन मे आओ
मेरे जीवन की रानी !

कल्पना किया करती है
मेरे मानस मे क्रीड़ा,
खेला करती है निशि-दिन
प्राणो से मीठी पीड़ा,
है सिसक रही युग-युग की
प्यासी-सी यह अभिलाषा,
हँसती रहती है उर मे
मेरी चिर-सचित आशा।

मैं स्वयम् डुबा लूँ जिसमें,
तुम वह प्रवाह बन जाओ!
मेरे सपने की प्रतिमा!
सपना-सी बन कर आओ!

मै सागर का गर्जन हूँ,
तुम सरिता की रँगरेली,
मै जीवन का विप्लव हूँ,
तुम उसकी मौन पहेली,
मै ताप बनूँ पावक का,
तुम हो प्रकाश की माला,
उन्माद बनूँ मै मधु का,
तुम हो सुरभित मधुशाला,
मै बनूँ क्रान्ति की हलचल,
तुम करुणा दीवानी सी,
मै तडप उठूँ आँधी सा,
तुम बरस पडो पानी सी!

मेरी आहो के शोलो
का ज्वालामुखी प्रबल हो,
उच्छ्वास तुम्हारी धूमिल
नभ-मडल की हलचल हो,
मै बनूँ नाश विशृंखल,
तुम महा प्रलय अविकल हो,

मै बनूँ नृत्य ताडव का
तुम उसकी गति चचल हो,

विद्रोह भरे जीवन मे,
तुम महाशक्ति बन जाओ!
मेरे पतझड की झझा,
मेरे पतझड़ मे आओ।

मेरे सोये से उर मे
तुम जागृति की कम्पन-सी,
अलसाई-सी आँखो मे
मदिरा के पागलपन-सी,
मेरे सूने-से जग मे
तुम वैभव के स्पन्दन-सी,
आओ, जीवन-निधि! आओ,
जीवन मे तुम जीवन-सी।

जीवन-जलनिधि मे मेरी
तृष्णा अतृप्त बन जाओ!
मैं भूल गया हूँ निज को,
निज बनकर मुझमे आओ!

—०—

तृतीय

तुम सुधि बन-बन कर बार-बार
क्यो कर जाती हो प्यार मुझे ?
फिर विस्मृति बन तन्मयता का
दे जाती हो उपहार मुझे !
मै करके पीडा को विलीन
पीडा मे स्वयम् विलीन हुआ,
अब असह बन गया देवि, तुम्हारी अनुकम्पा का भार मुझे !
माना वह केवल सपना था,
पर कितना सुन्दर सपना था !
जब मै अपना था, और सुमुखि !
तुम अपनी थी, जग अपना था !
जिसको समझा था प्यार, वही
अधिकार बना पागलपन का,
अब मिटा रहा प्रतिपल, तिल-तिल मेरा निर्मित संसार मुझे !

चतुर्थ

हम दीवानो की क्या हस्ती ?
है आज यहाँ, कल वहाँ चले !
मस्ती का आलम साथ चला ,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले ।

आये बन कर उल्लास अभी ,
आँसू बन कर बह चले अभी ,

सब कहते ही रह गये अरे
तुम कैसे आये, कहाँ चले ?
किस ओर चले ? यह मत पूछो,
चलना है, बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिये चले
जग को अपना कुछ दिये चले,

दो बात कही, दो बात सुनीं !
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये

छक कर सुख दुख के घूँटों को
हम एक भाव से पिये चले !
हम भिखमगों की दुनिया मे ,
स्वच्छन्द लुटा कर प्यार चले ,
हम एक निशानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चले ,

हम मान रहित, अपमान-रहित
जी भर कर खुल कर खेल चुके,

हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले !

हम भला-बुरा सब भूल चुके
नत मस्तक हो, मुख मोड चले,
अभिशाप उठा कर होठो पर
वरदान दृगो से छोड चले
अब अपना और पराया क्या ?
आबाद रहे रुकने वाले !
हम स्वयम् बँधे थे और स्वयम
हम अपने बन्धन तोड चले !

[प्रेम सगीत से]

— —

भैंसागाड़ी

चरमर - चरमर-चूँ - चरर - मरर
जा रही चली भैंसागाडी !
गति के पागलपन से प्रेरित
चलती रहती ससृति महान,
सागर पर चलते हैं जहाज,
अम्बर पर चलते वायुयान,
भूतल के कोने - कोने मे
रेलो - ट्रामो का जाल बिछा,
हैं दौड़ रहीं मोटरें - बसे
लेकर मानव का बृहद् ज्ञान !

पर इस प्रदेश मे जहाँ नही
उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहे,
वे भूखे, अधखाए किसान
भर रहे जहाँ सूनी आहे,
नगे बच्चे, चिथडे पहने
माताएँ जर्जर डोल रही,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही
धूल उडाती है राहे,
बीते युग की परछाहीं-सी
बीते युग का इतिहास लिए,
'कल' के उन तन्द्रिल सपनो में
'अब' का निर्दय उपहास लिए,
गति मे किन सदियो की जडता ?
मन मे किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जर्जर-सी छाती मे
अपना जर्जर विश्वास लिए,
भर-भर कर फिर मिटने का स्वर,
कँप-कँप उठते जिसके स्तर-स्तर,
हिलती - डुलती, हँपती - कँपती,
कुछ रुक-रुक कर कुछ सिहर सिहर,
चरमर - चरमर - चूँ - चरर-मरर
जा रही चली भैसागाड़ी।

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों - से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर!
मै कहता हूँ खँडहर उसको,
पर वे कहते है उसे ग्राम,
जिसमे भर देती निज धुँधलापन
असफलता की सुबह - शाम,
पशु बन कर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही है गुलाम,
पैदा होना, फिर मर जाना,
बस यह लोगो का एक काम,
था वही कटा दो दिन पहले
गेहूँ का छोटा एक खेत!
तुम सुख - सुषमा के लाल
तुम्हारा है विशाल वैभव - विवेक
तुमने देखी है मान भरी
उच्छृङ्खल सुन्दरियाँ अनेक,
तुम भरे - पुरे, तुम हृष्ट पुष्ट
ए तुम समर्थ कर्त्ता - हर्ता,
तुमने देखा है क्या बोलो,
हिलता - डुलता ककाल एक?

वह था उसका ही खेत, जिसे
उसने उन पिछले चार माह,
अपने शोणित को सुखा-सुखा,
भर - भर कर अपनी विवश आह,
तैयार किया था, औ' घर मे
थी रही रुग्न पत्नी कराह।
उसके वे बच्चे तीन जिन्हें
माँ बाप का मिला प्यार न था,
जो थे जीवन के व्यंग किन्तु
मरने का भी अधिकार न था,
थे क्षुधा-ग्रस्त बिलबिला रहे
मानो वे मोरी के कीड़े,
वे निपट घिनौने, महा पतित
बौने कुरूप टेढ़े - मेढ़े।
उसका कुटुम्ब था भरा पुरा
'आहो से, हाहाकारो से'।
फाको से लड़ - लड कर प्रतिदिन,
घुट-घुट कर अत्याचारो से
तैयार किया था उसने ही
अपना छोटा - सा एक खेत।
बीबी - बच्चो से छीन, बीन
दाना - दाना, अपने मे भर,

भूखे तड़पें या मरें, भरों
का तो भरना है उसको घर।
धन की दानवता से पीडित
कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर
चरमर - चरमर - चूँ - चरर मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी।

है बीस कोस पर एक नगर
उस एक नगर में एक हाट,
जिसमें मानव की दानवता
फैलाए है निज राज - पाट,
साहूकारों का भेस धरे
है जहाँ चोर औ' गिरहकाट,
है अभिशापों से घिरा जहाँ
पशुता का कलुषित ठाट-बाट।

उसमें चाँदी के टुकड़ों के
बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से
तो चलता है सब राज-काज।

वह राज-काज, जो सधा हुआ
है उन भूखे कंकालों पर
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी
है तिल-तिल मिटने वालों पर।

वे व्यापारी वे ज़मींदार,
वे है लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदख़ोर,
पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।

इस राज - काज के वही स्तम्भ
उनकी पृथ्वी, उनका ही धन,
ये ऐश और आराम उन्हीं के,
और उन्हीं के स्वर्ग सदन।

उस बडे नगर का राग - रंग
हँस रहा निरन्तर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित
कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन।

चाँदी के टुकडो मे विलास,
चाँदी के टुकडो मे है बल,
सब धर्म कर्म, सब चहल-पहल।
इन चाँदी के ही टुकड़ो मे
है मानव का अस्तित्व विफल।

चाँदी के टुकडो को लेने
प्रतिदिन पिस कर भूखो मरकर,
भैसगाडी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर,

है उसे चुकाना सूद कर्ज,
है उसे चुकाना अपना कर,
जितना खाली है उसका घर
उतना खाली उसका अन्तर !

नीचे जलने वाली पृथ्वी
ऊपर जलने वाला अम्बर,
औ कठिन भूख की जलन लिए
नर बैठा है बन कर पत्थर !
पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर
मानव का कृश कंकाल लिए

चरमर- चरमर-चूँ- चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाडी !

———

राजा साहब का वायुयान

वह उजड़ा-सा था एक गाँव !

उस कठिन, कँटीली पगडंडी
पर रहे विवश - से थे घसीट
निज निर्बल, सूखे, फटे पाँव,
निष्प्राण, लौटने वाले वे

कुछ थके हुए मरियल किसान!
धूमिल - सी सकल दिशाएँ थीं,
धूमिल था सारा आसमान!
उनसे भी धूमिल वे मानव,
मैंने पूछा था तब जिनसे,
तुम कहाँ छोड आये, दिन भर
अपने खेतो मे पशु बन कर
काटा था तुमने जो कि धान ?"
कितनी कुरूप वह शुष्क हँसी,
जो उनके सूखे होठो पर
थी भूल पडी, जैसे फाँसी
पर लटका भूल रहा हो नर!
फिर कहा एक ने कुछ बढ कर,
"क्या नही सुना तुमने अब तक,
है मोल ले रहे जिलेदार
पौने दामो पर सकल धान,
इस तरह हो रहा है वसूल
इस साल बँधा ड्योढ़ा लगान,
इसलिए, क्यो कि हैं मोल लिया
राजा साहब ने वायुयान!"
था ऊँचा - सा प्रासाद एक!

वैभव पर अकड़े बैठे थे
वे राजा - साहब कुरसी पर,
उनके पैरों पर फ़र्श बिछा था,
जिस पर बैठे थे नौकर,

दरबार जमा था वहाँ और
थे अर्ज़ कर रहे मैनेजर—
'सरकार ! हो गये है सरकश,
अब नमक - हरामी करने पर

आमादा हैं ये सब किसान !
कहते हैं सूखे के कारण,
हम देने को तैयार नहीं
ड्यौढ़ा क्या, पूरा तक लगान !'

कह उठा सरबराकार एक —
'श्रीमान बड़े है दयावान,
वरना उनकी थी क्या मजाल
इस तरह लड़ाते जो ज़बान !'

तमतमा उठे राजा साहब,
बोले, 'मैने कब रोका है ?
मुझको तो रुपयों से मतलब !
दिल्ली जाना है मुझे अभी
है आज शाम को वहाँ डिनर ।'

राजा साहब ने फिर मुझ पर
डाली सगर्व हँस एक नज़र,
'देखा तुमने मिस्टर वर्मा,,
मै सुबह वहाँ, फिर शाम वहाँ,
होती जब कौंसिल की बैठक
आना होता है मुझे यहाँ—
यह अपनी बड़ी रिआया जो
लेने को उसकी खैर - खबर!
मै राज्य - काज का एक स्तम्भ,
है यहाँ समय का बड़ा मूल्य!
इसलिए खरीदा है मैने
सामने आप जो देख रहे
है खड़ा हुआ वह वायुयान!'
राजा साहब है देश - भक्त,
राजा साहब है बुद्धिमान,
राजा साहब के मित्र सभी
जितने भर नेता हैं महान!
फिर इसमे कुछ आश्चर्य नहीं,
वे बड़े मिनिस्टर सूबे के—
उनके छोटे - छोटे लड़के
थे मचल पड़े सहसा कह कर,
'हम तो घूमेंगे आसमान!'

जैसे छोटा - क्लर्क एक
साहब की बड़ी खुशामद मे
जाता है उनके बॅगले पर,
साहब के छोटे बच्चों को
बिठला कर अपने कंधो पर
है कभी घुमाता, बहलाता,
फिर कभी खिलौना ले देने
ले जाया करता है बज़ार !
बस उसी तरह राजा - साहब
उन बड़े मिनिस्टर के बॅगले पर
ले करके अपनी मोटर
दौड़े, फिर उनके बच्चो को
ले गये घुमाने आसमान !

राजा साहब हैं देश - भक्त
राजा साहब है बुद्धिमान
राजा साहब के मित्र सभी
जितने भर नेता हैं महान !

कितनी ही सस्थाओ के हैं
वे प्रेसीडेंट, वे चेयरमैन,
सारे जग को हैं मोह रहे
राजा साहब के मधुर बैन !

राजा साहब है दानशील,
राजा साहब है दयावान।

राजा साहब के पैसों से
पलते हैं कितने ही नेता,
पलते हैं कितने कवि - लेखक
पलते हैं कितने ही गुण्डे,
पलते हैं कितने ही महन्त,
पलते है कितने ही नौकर,
पलते है कितने ही किसान।

मै सोच रहा—राजा साहब
करते है कोई काम नहीं
फिर भी उनको जो प्राप्त न हो,
जग मे ऐसा आराम नहीं।
इतनों को पाल रहे है वे,
पर वे खुद कैसे पलते है?
जग रेंग रहा है पृथ्वी पर,
वे आसमान पर चलते है।

यह क्या? नयनो के आगे क्यों
वे नाच उठे मरियल किसान?
जिनकी पशुओं की-सी मेहनत
बना जाया करती है लगान।

वे रोएँ, अथवा चिल्लाएँ,
उनको भूखों मरना होगा!
उनको तिल-तिल मिटना होगा!
वे निर्बल हैं, अति निर्बल हैं,
हैं राजा साहेब शक्तिवान।

नेता हैं सब एहसानमन्द,
अफसर हैं उनसे दबे हुए,
कितने प्रताप से भरा हुआ—
राजा साहब का वायुयान!

श्री भगवतीचरण वर्मा के ग्रन्थ

काव्य—मधुकण, प्रेमसगीत, मानव।

उपन्यास—पतन, चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेटे-मेढे रास्ते (अप्रकाशित)

कहानी—इस्टालमेंट, दो बाँके।

मध्य-धारा

श्री सियारामशरण गुप्त

श्री हरिवश राय 'बच्चन'

श्री उदय शकर भट्ट

श्री सियारामशरण गुप्त

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रोत्साहन पाकर श्री सियारामशरण गुप्त ने मध्य युग की सांस्कृतिक विचार-धारा को आधुनिक युग के मनोविज्ञान में प्रतिष्ठित कर ख्याति प्राप्ति की है। वे कथात्मक इतिवृत्त लिखने में पटु हैं। कथा वर्णन के साथ ही साथ वे भावनाओं का विस्तार करते हुए अपने वर्ण्य-विषय में रोचकता की सृष्टि करते हैं। करुण रस उनका सबसे अधिक प्रिय रस है। अपने इतिवृत्त में वे अभिनयात्मकता को प्रमुख स्थान देते हैं। इस प्रकार श्री सियारामशरण गुप्त में कहानी लेखक की कथा-प्रवाह शैली है, नाटककार के अभिनय तत्व की कला है और कवि के भाव चित्रण की निपुणता है। यही उनके काव्य की पवित्र त्रिवेणी है।

कवि होने के साथ ही श्री सियारामशरण गुप्त एक अच्छे उपन्यासकार और कहानी लेखक भी हैं। 'नारी' उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है जिसमें प्रेमचन्द्र के सदृश उन्होंने ग्रामीण वातावरण में नारी के मनोविज्ञान की अत्यन्त स्वाभाविक झाँकी प्रस्तुत की है।

"झूठ सच" में उन्होंने हिन्दी साहित्य में कहानी की एक नवीन शैली प्रस्तुत की है। जीवन के चिन्तन-पक्ष में भावना का कौतूहल पक्ष जोड़कर उन्होंने कथा-साहित्य में एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया है। वार्तालाप के ढंग में—अपनी डायरी के पृष्ठों में—जैसे

उन्होंने जीवन की बडी गम्भीर समीक्षा की है गद्य और पद्य समान रूप से सफलतापूर्वक लिखने मे श्री सियारामशरण गुप्त ने श्रीमती महादेवी वर्मा के समान अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। वे महा कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुज हैं। उन्होने अपनी साहित्य-साधना से अपने कुल की गौरव श्री सुरक्षित रक्खी है।

श्री सियारामशरण गुप्त का स्वास्थ्य सतोषप्रद नही है। महाकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्दो मे, "रोग ज्यों ज्यो उनके शरीर को शिथिल करता है, त्यो त्या उनका मन और सक्रिय हो उठता है और तनिक सॉस लेते ही वे कुछ लिखने बैठ जाते हैं।" यह उनकी शारीरिक और मानसिक परिस्थिति है। अपने रोग की उपेक्षा करके जिस कवि ने ससार के घोर हिसा काड और पैशाचिक प्रलय के विरुद्ध पाठकों की सहानुभूति प्रबुद्ध करने का प्रयत्न किया है, उसकी दीर्घायु की हम कामना करते हैं।

इस कवि ने आधुनिक युग मे भारतीय सस्कृति की रक्षा की और जीवन के पवित्र आदर्श के प्रति श्रद्धा की जो काव्याञ्जलि प्रस्तुत की है, वह कभी सौरभ-रहित न होगी।

घट

जतिल ककड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन मे,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको
बाँधा है इस बन्धन मे ?

फाँसी-सी है पडी गले मे
नीचे गिरता जाता हूँ,
बार-बार इस अन्ध कूप मे
इधर-उधर टकराता हूँ !

ऊपर-नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ मे आता ! !
गिर कर मै जा रहा कहाँ ! !

काँप रहा हूँ, भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण,
ऐसे दुखमय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?

सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय,
यह क्या ? यह तो अगम नीर है,
डूबा ! अब डूबा, मैं हाय !!

भगवन् ! हाय ! बचालो अब तो
तुम्हे पुकारूँ मैं जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर मे
आर्त्तनाद करके तब तक।

अरे, कहाँ वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं,
गौरववान हुआ हूँ सहसा,
बना रहूँ तो क्यो न यहीं ?

पर मै ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वलतर जीवन लेकर,
तुमसे उऋण नही हो सकता
यह नवजीवन भी देकर।

[दूर्वा दल से]

ग्वालिनें

एक ग्वालिन वह जमुना तट की ।
लौटी भटकी-भटकी ।
प्रात प्रात ही उठ आई थी ,
गोरस बेच लाभ लाई थी ,
मन भाई थी पर वह जो निधि
निरख नहीं पाई थी ।
लौटा सूनी-सी गलियों में ,
सिर पर रीती मटकी ।
एक ग्वालिन वह जमुना तट की ।
फूलों पर भौंरों का गुंजन ,
इधर-उधर विहगों का कुंजन
किन्तु श्रवण-धन मिला न उसको
बदन खिन्न, मन उन्मन ।
प्यासी-सी उस सीरे में भी
दूर किसी आहट की ।
एक ग्वालिन वह जमुना तट की ।

दूसरी वह भी गोरस वाली !
लिये न थी घट खाली।
बिका न था उसका दधि-माखन,
अचल-बद्ध न था विक्रय-धन ;
पर हलके तन लौट रही थी,
यह अच्छा भोलापन !
जाती थी पर ठिठकी-ठिठकी
गति मे मजु मराली।
नवेली ग्वालिन, गोरस वाली।
बेचेगी क्या इन कुजो मे,
कुटिल करीलो के पुजो मे ?
खिला रही है अपना मन तू
वन के इन गुजो मे।
देख रही इनमे फिर फिर क्या,
अपने उर की लाली ?
भली री ग्वालिन, गोरस वाली !
चौंक पड़ी आहा, किस स्वर से !
बरसा सहसा सुरस किधर से ?
ग्रीवा मोड़ मुड़ी, थामे थी
दधि-घट कम्पित कर से
तू आगे आगे थी, पीछे

तेरा यह वनमाली !
अरी ओ ग्वालिन, गोरस वाली !

चल-तनु मे शुचि-मधु-रस छूटा ,
गिर कर वह कच्चा घट फूटा ,
दधि-माखन का मिस, अवनी ने
हर्ष-हास वह लूटा ।
यह नट-नागर नाच उठा है
बजा बजा कर ताली ।
धन्य री, ग्वालिन गोरस वाली ।

क्या पहली का वह विक्रय धन ?—
तुझ पर न्योछावर दधि-माखन !
निखर गया मृदु मोदामृत मे
तेरा तन-मन जीवन
प्रिय की स्मिति-निधि अहा, न-कुछ मे
पा ली, तूने पा ली !
सफल री, ग्वालिन गोरस वाली !

[मृण्मयी से]

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय !
तू अमल-धवल है, मै श्यामल,
ऊँचे पर है तेरे पद-तल,
यह हूँ मै नीचे का तृण-दल.
पहुँचूँ उन तक किस भाँति, हाय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !
हो शत-शत झञ्झावात प्रबल,
फिर भी स्वभावत तू अविचल।
मै तनिक-तनिक मे चिर चञ्चल.
मेटूँ कैसे यह अन्तराय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !
अविरत तेरा करुणा-निर्झर,
अगणित धाराओ से झर झर,
जीवित रखता है जीवन भर,
मेरा यह जीवन जडितप्राय;
तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय !

है जहाँ अगम्य दिवाकर-कर,
तेरे गह्वर भी आकर वर,
है ऊँचे से भी ऊँचे पर,
मन उन तक भी किस भाँति जाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !

[पाथेय से]

एक फूल की चाह

[१]

उद्वेलित कर अश्रु-राशियाँ
हृदय-चिताएँ धधकाकर,
महा महामारी प्रचण्ड हो
फैल रही थी इधर उधर।
क्षीण कण्ठ मृत वत्साओ का
करुण रुदन दुर्दान्त नितान्त,
भरे हुए था निज कृश रव मे
हाहाकार अपार अशान्त।
बहुत रोकता था सुखिया को,
'न जा खेलने को बाहर',
नहीं खेलना रुकता उसका
नहीं ठहरती वह पल भर।

मेरा हृदय काप उठता था,
बाहर गई निहार उसे,
यही मनाता था कि बचा लूँ
किसी भाति इस बार उसे।

भीतर जो डर रहा छिपाये,
हाय! वही बाहर आया।
एक दिवस सुखिया के तनु को
ताप - तप्त मैने पाया।

ज्वर मे विह्वल हो बोली वह
क्या जानूँ किस डर से डर —
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर!

[२]

बेटी, बतला तो तू मुझको
किसने तुझे बताया यह,
किसके द्वारा कैसे तूने
भाव अचानक पाया यह?

मैं अछूत हूँ, मुझे कौन हा!
मन्दिर मे जाने देगा,
देवी का प्रसाद ही मुझको
कौन यहाँ लाने देगा?

बार बार, फिर फिर, तेरा हठ !
पूरा इसे करूँ कैसे,
किससे कहूँ, कौन बतलावे,
धीरज हाय ! धरूँ कैसे ?
कोमल कुसुम-समान देह हा ! -
हुई तप्त अगार - मयी,
प्रति पल बढ़ती ही जाती है
विपुल वेदना, व्यथा नई।
मैंने कई फूल ला लाकर
रक्खे उसकी खटिया पर,
सोचा-शान्त करूँ मैं उसको,
किसी तरह तो बहला कर,
तोड-मोड़ वे फूल फेंक सब
बोल उठी वह चिल्ला कर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर !

[३]

क्रमशः कण्ठ क्षीण हो आया,
शिथिल हुए अवयव सारे,
बैठा था नव-नव उपाय की
चिन्ता मे मैं मनमारे।

जान सका न प्रभात सजग से
हुई अलस कब दोपहरी
स्वर्ण-घनों मे कब रवि डूबा
कब आई सन्ध्या गहरी।

सभी ओर दिखलाई दी बस,
अन्धकार की ही छाया,
छोटी-सी बच्ची को ग्रसने
कितना बड़ा तिमिर आया।

ऊपर विस्तृत महाकाश में
जलते - से अंगारों से,
झुलसी - सी जाती थीं आँखें
जगमग जगते तारो से।

देख रहा था—जो सुस्थिर हो
नहीं बैठती थी क्षण भर,
हाय! वही चुपचाप पड़ी थी
अटल शान्ति-सी धारण कर।

सुनना नहीं चाहता था मैं
उसे स्वयं ही उकसा कर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर!

[४]

हे मातः, हे शिवे, अम्बिके,
तप्त ताप यह शान्त करो,
निरपराध छोटी बच्ची यह,
हाय! न मुझसे इसे हरो!
काली कान्ति पड़ गई इसकी,
हँसी न जाने गई कहाँ,
अटक रहे हैं प्राण क्षीण तर
साँसों मे ही हाय, यहाँ!
अरी निष्ठुरे, बढ़ी हुई ही
है यदि तेरी तृषा नितान्त,
तो कर ले तू उसे इसी क्षण
मेरे इस जीवन से शान्त!
मैं अछूत हूँ तो क्या मेरी
विनती भी है हाय! अछूत,
उससे भी क्या लग जावेगी
तेरे श्री-मन्दिर को छूत?
किसे ज्ञात, मेरी विनती वह
पहुँची अथवा नहीं वहाँ,
उस अपार सागर का दीखा
पार न मुझको कहीं वहाँ।

अरी रात, क्या अक्षयता का
पट्टा लेकर आई तू !
आकर अखिल विश्व के ऊपर
प्रलय-घटा-सी छाई तू !
पग भर भी न बढ़ी आगे तू
डट कर बैठ गई ऐसी,
क्या न अरुण-आभा जागेगी,
सहसा आज विकृत कैसी !
युग के युग से बीत गये हैं,
तू ज्यों की त्यों है लेटी,
पड़ी एक करवट कब से तू,
बोल, बोल, कुछ तो बेटी !
वह चुप थी, पर गूंज रही थी
उसकी गिरा गगन-भर भर—
'मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल दो तुम लाकर'

[५]

"कुछ हो देवी के प्रसाद का
एक फूल तो लाऊँगा;
हो तो प्रात-काल, शीघ्र ही
मन्दिर को मै जाऊँगा।

तुझ पर देवी की छाया है
　　और इष्ट है यही तुझे,
देखूँ देवी के मन्दिर मे
　　रोक सकेगा कौन तुझे।"

मेरे इस निश्चल निश्चय ने
　　झट-से हृदय किया हलका,
ऊपर देखा—करुण राग से
　　रञ्जित भाल नभस्थल का!

झड सी गई तारका वलि थी
　　म्लान और निष्प्रभ होकर,
निकल पड़े थे खग नीड़ो से
　　मानो सुध-बुध-सी खोकर।

रस्सी डोल हाथ मे लेकर
　　निकट कुएँ पर जा जल खींच,
मैने स्नान किया शीतल हो,
　　सलिल-सुधा से तनु को सींच,

उज्ज्वल वस्त्र पहन घर आकर
　　अशुचि ग्लानि सब धो डाली।
चन्दन-पुष्प-कपूर-धूप से
　　सजा ली पूजा की थाली।

दुखिया के सिरहाने जाकर
मैं धीरे से खड़ा हुआ।
आँखे झपी हुई थीं, मुख भी
मुरझा-सा था पड़ा हुआ।

मैने चाहा,—उसे चूम लूँ
किन्तु अशुचिता से डर कर
अपने वस्त्र सँभाल, सिकुड़ कर
खड़ा रहा कुछ दूरी पर।

वह कुछ कुछ मुस्काई सहसा,
जाने किन स्वप्नो में लग्न
उसकी वह मुस्काहट भी हा!
कर न सकी मुझको मुद-मग्न।

अक्षम मुझे समझ कर क्या तू
हसी कर रही है मेरी?
बेटी, जाता हूँ मन्दिर मै
आज्ञा यही समझ तेरी।

उसने नहीं कहा कुछ, मैं ही
बोल उठा तब धीरज धर—
तुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल तो दूँ लाकर!

[६]

ऊँचे शैल-शिखर के ऊपर
मन्दिर था विस्तीर्ण विशाल,
स्वर्ण-कलशसरसिज विहसित थे
पाकर समुदित रवि-कर-जाल।

परिक्रमा-सी कर मन्दिर की,
ऊपर से आकर झर झर,
वहाँ एक झरना झरता था
कल कल मधुर गान कर कर।

पुष्प - हार- सा जँचता था वह
मन्दिर के श्री चरणों में,
त्रुटि न दीखती थी भीतर भी
पूजा के उपकरणों मे।

दीप-दूध से आमोदित था
मन्दिर का आँगन सारा,
गूँज रही थी भीतर बाहर
मुखरित उत्सव की धारा।

भक्त-वृन्द मृदु मधुर कण्ठ से
गाते थे सभक्ति मुद-मय—
पतित-तारिणी पाप-हारिणी,
माता, तेरी जय जय-जय"

'पतित तारिणी, तेरी जयजय'—
मेरे मुख से भी निकला,
बिना बढ़े ही मै आगे को
जाने किस बल से ढिकला!

माता, तू इतनी सुन्दर है,
नहीं जानता था मै यह;
माँ के पास रोक बच्चो की,
कैसी विधि यह तू ही कह?

आज स्वय अपने निदेश से
तूने मुझे बुलाया है,
अभी आज पापी अछूत यह
श्री चरणो तक आया है!

मेरे दीप-फूल लेकर वे
अम्बा को अर्पित करके
दिया पुजारी ने प्रसाद जब
आगे को अञ्जलि भरके,

भूल गया उसका लेना झट,
परम लाभ-सा पाकर मैं।
सोचा,—बेटी को माँ के ये
पुण्य-पुष्प दूँ जाकर मैं

[७]

सिह पौर तक भी आँगन से
नहीं पहुँचने मैं पाया,
सहसा यह सुन पड़ा कि—'कैसे
यह अछूत भीतर आया ?
पकड़ो, देखो भाग न जावे,
बना धूर्त यह है कैसा,
साफ स्वच्छ परिधान किये है,
भले मानुषो के जैसा !
पापी ने मन्दिर मे घुस कर
किया अनर्थ बड़ा भारी,
कलुषित कर दी है मन्दिर की
चिरकालिक शुचिता सारी।"
ऐ, क्या मेरा कलुष बड़ा है
देवी की गरिमा से भी,
किसी बात में हूँ मैं आगे
माता की महिमा के भी ?
माँ के भक्त हुए तुम कैसे,
करके यह विचार खोटा ?
माँ के सम्मुख ही माँ का तुम
गौरव करते हो छोटा।

कुछ न सुना भक्तों ने, झट से
मुझे घेर कर पकड़ लिया,
मार मार कर मुक्के-घूँसे
धम-से नीचे गिरा दिया।

मेरे हाथों से प्रसाद भी
बिखर गया हा! सब का सब,
हाय! अभागी बेटी तुझ तक
कैसे पहुँच सके यह सब।

मैंने उनसे कहा,—दण्ड दो
मुझे मार कर, ठुकरा कर,
बस यह एक फूल कोई भी
दो बच्ची को ले जाकर।

[८]

न्यायालय ले गये मुझे वे,
सात दिवस का दंड-विधान—
मुझको हुआ, हुआ था मुझसे
देवी का महान् अपमान!

मैंने स्वीकृत किया दण्ड वह
शीश झुकाकर चुप ही रह;
उस असीम अभियोग दोष का
क्या उत्तर देता क्या कह?

सात रोज ही रहा जेल मे
या कि वहाँ सदियाँ बीतीं,
अविश्रान्त बरसा करके भी
आँखे तनिक नहीं रीतीं।
कैदी कहते—"अरे मूर्ख, क्यो
ममता थी मन्दिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी
दूर न था गिरजाघर भी।"
कैसे उनको समझाता मैं,
वहाँ गया था क्या सुख से,
देवी का प्रसाद चाहा था
बेटी ने अपने मुख से।

[६]

दण्ड भोग कर जब मैं छूटा,
पैर न उठते थे घर को,
पीछे ठेल रहा था कोई
भय-जर्जर तनु पञ्जर को।
पहले की सी लेने मुझको
नही दौड़ कर आई वह,
उलझी हुई खेल मे ही हा !
अबकी दी न दिखाई वह।

उसे देखने मरघट को ही
गया दौड़ता हुआ वहाँ,—
मेरे परिचित बन्धु प्रथम ही
फूँक चुके थे उसे जहाँ।

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर
छाती धधक उठी मेरी.
हाय! फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी!

अन्तिम बार गोद मे बेटी,
तुझको ले न सका मैं हा!
एक फूल माँ के प्रसाद का भी
तुझको दे न सका मै हा!

वह प्रसाद देकर ही तुझको
जेल न जा सकता था क्या?
तनिक ठहर ही सब जन्मो के
दण्ड न पा सकता था क्या?

बेटी की छोटी इच्छा वह
कहीं पूर्ण मै कर देता,
तो क्या अरे देव त्रिभुवन का
सभी विभव मैं हर लेता?

यही चिता पर धर दूँगा मैं,
—कोई अरे सुनो, वर दो—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही लाकर दो!

[आर्द्रा से]

बापू

विश्व - महावंश - पाल,
धन्य, तुम धन्य हे धरा के लाल!
छद्म-छल के अबोध,
वीतराग वीतक्रोध,
तुम मे पुरातन है नूतन मे,
नूतन निरन्तर मे।
छोटे-से क्षितिज हे,
वसुधा के निज हे,
वसुधा तुम्हारे बीच स्वर्ग मे समुन्नत है,
स्वर्ग वसुधा मे समागत है,
आकर तुम्हारे नये संगम मे,
लघु अवतीर्ण है महत्तम में,

दूर और पास आसपास खिले,
एक दूसरे से हिले,
भीतर मे बाहर मे,
हास और रोदन ध्वनित एक स्वर मे।

जानें किस भाषा मे,
ज्ञात किसे, जाने किस आशा मे,
हास मे तुम्हारे विश्व हँसता,
रोदन मे आकर निवसता।

विश्व-वेदना का महा पारावार,
घोर-घन हाहाकार,
छोटा-सा तुम्हारा यह वर्त्तमान
विपुल भविष्य मे प्रवर्द्धमान,

आज के अपत्य तुम, कल के जनक हो,
एक के अनेक मे गणक हो,
सब के सहज साध्य,
सब के सदा अबाध्य,

आत्मलीन सर्वकाल सर्वात्मीय,
कौन तव परकीय ?
तुम अपने हो विश्व भर के
पुण्यातिथि भी सदैव घर के,

हे विदेह
गेही भी सदैव तुम हो अगेह,
फेंक सकते हो तुम्हीं निर्विकार,
मृत्तिका समान हेम-हीर मणि-मुक्ता हार,

सन्तत अतुल हे,
जन्मजात उच्च स्वर्गकुल के,
मर्त्य कुलशाखा मे हुए हो गोद
सप्रमोद ,

भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बडी बूँद किसी पुण्य-स्वाति जल की
दुर्लभ सुयोग जन्य
प्राप्त कर तुममे हुई है धन्य धन्य धन्य !

बाल तुम ? - बाल युवा-वृद्ध नहीं कुछ भी,
पूर्ण विश्व-मानव तभी, तभी,
प्यार-प्रेम-श्रद्धा सह
वार वार प्रणत प्रणाम तुम्हें अहरह !

[बापू से]

— ——

विकलाङ्ग

आया बड़ी देर मे दैनिक, किया सभी ने स्वागत
प्रथम पृष्ठ पर ही मुद्रित था 'एक सहस्र हताहत !'

यत्र तत्र यों ही सा पढ़ कुछ नासा कुंचित करके,
पलट दिया पन्ना पाठक ने क्षण भर भी न ठहर के।

'एक सहस्र हताहत !'—सहसा जाग उठी जिज्ञासा,—
धरती पर उनका जीवन था क्या कृमि कीटों का सा ?

उनके लिए किसी के उर मे उठी न करुणा-लहरी,
उनकी मरण-यातना मे भी बोध शक्ति है बहरी।

उनमे से जीवित कुछ अब भी ज्वाला मे जल-भुनके,
तड़प रहे होंगे धरती पर, अब तब जीवन उनके।

उन छिन्नाङ्गों की चिल्लाहट रह रह कर अप्रतिहत,
करती होगी वहाँ पवन की छाती मे क्षत शत शत।

नहीं प्रभावित यहाँ तनिक भी उनकी उस तड़पन से,
जड़ विकलाङ्ग हमारे मन मे श्रवण और लोचन से !

[दैनिकी से]

सियारामशरण गुप्त के ग्रन्थ

कविता—आत्मोत्सर्ग, विषाद, मौर्य-विजय, अनाथ, दूर्वादल, मृण्मयी, पाथेय, आर्द्रा, बापू, उन्मुक्त, दैनिकी।

नाटक—पुण्य पर्व।

उपन्यास—गोद, नारी, अन्तिम आकांक्षा।

कहानियाँ—मानुषी।

गद्य—झूठ सच।

———

श्री हरिवंश राय 'बच्चन'

श्री बच्चन जी जीवन की अत्यत सघर्षपूर्ण परिस्थितियो मे से हो कर वर्तमान मे आए हैं। वस्तुत उनके जीवन का विकाश 'अग्नि पथ' को पार कर हुआ है। अत उनकी कविता मे जीवन की गहराई अपनी तीव्र अनुभूतियो को लेकर आई है। इन अनुभूतियो ने कवि को दार्शनिक नहीं बनाया, प्रत्युत उसमे मादकता और मस्ती की ऐसी मतवाली विह्वलता भर दी कि कविता 'सतरगिनी' की एक आकर्षक झाँकी बन गई।

श्री बच्चन का काव्य क्षेत्र मे प्रवेश तो "तेरा हार" से ही हो गया था किन्तु उन्हे काव्य-क्षेत्र मे यश देने का श्रेय उनकी 'मधुशाला' को ही है। उमर खैयाम की रुबाइयो की दार्शनिकता और मस्ती को मौलिक रूप से लिखने का श्रेय बच्चन जी को ही है। खैयाम की शैली और भावो से स्फूर्ति पाकर भी बच्चन जी ने अपनी अनुमति की मौलिकता हाथ से नही जाने दी है। इस 'मधुशाला' मे जीवन के अनेक दृष्टिकोण मधुशाला का आधार पाकर कवि की भावना मे साकार हुए हैं।

'मधुशाला' के बाद कवि कुछ अधिक गम्भीर हो गया। ज्ञात होता है कि मधुशाला की भावना की प्रतिक्रिया कवि को जीवन मे बहुत गहरे उतार ले गई। जीवनगत परिस्थितियो की विषमताएँ कवि को जो गम्भीरता नही दे सकी, वह गम्भीरता 'मधुशाला' की प्रतिक्रिया मे कवि को आसानी से मिल गई। इस गम्भीरता का तात्पर्य यह नहीं कि कवि अपनी कविता मे दार्शनिक बन गया। वह जीवन की विषमताओ को अधिक सूक्ष्मता के साथ निरखने लगा।

कवि मे जीवन के वस्तुवाद से बडा विद्रोह है। प्राचीन सस्कारों को वह साहस के साथ कुचल सकता है। नई दिशा मे बढने का साहस उसके पास प्रचुर परिमाण मे है। कही कही उसके पास प्राचीन स्मृतियो का सचित कोष भी है और अपने मोह के रगीन क्षणो मे वह उन स्मृतियो की छाया में विश्राम भी कर लेता है किन्तु श्रान्ति दूर होने पर वह पुन. अपने विद्रोह के पथ पर चलने लगता है।

जीवन की गम्भीर परिस्थितियो मे अपनी दिशा खोज लेने की दृष्टि श्री बच्चन की विशेषता है।

मधुशाला

मृदु भावों के अंगूरों की
आज बना लाया हाला,
प्रियतम ! अपने ही हाथों से
आज पिलाऊँगा प्याला,

पहले भोग लगा लूँ तेरा,
फिर प्रसाद जग पाएगा,

सबसे पहले तेरा स्वागत
करती मेरी मधुशाला !

भावुकता-अंगूर लता से
खींच कल्पना की हाला,
कवि बनकर है साकी आया
भरकर कविता का प्याला,

कभी न कणभर खाली होगा,
लाख पिएँ, दो लाख पिएँ !

पाठकगण हैं पीनेवाले,
पुस्तक मेरी मधुशाला !

सुनु ! कलकल, छलछल मधु-
घट से गिरती प्यालों में हाला,
सुन ! रुनझुन, रुनझुन चल
वितरण करती मधु साकीबाला,
बस आ पहुँचे, दूर नहीं कुछ,
चार कदम अब चलना है,
चहक रहे, सुन, पीनेवाले,
महक रही, ले, मधुशाला !

मेहँदी-रंजित मृदुल हथेली
में माणिक मधु का प्याला,
अंगूरी अवगुंठन डाले
स्वर्ण वर्ण साकीबाला,
पाग बैंजनी, जामा नीला
डाट डटे पीनेवाले,
इंद्रधनुष से होड़ रही ले
आज रँगीली मधुशाला।

लाल सुरा की धार लपट-सी
कह न इसे देना ज्वाला,
फेनिल मदिरा है, मत इसको
कह देना उर का छाला,

दर्द नाश है इस मदिरा का,
विगतस्मृतियाँ साकी है,
पीड़ा मे आनन्द जिसे हो.
आए मेरी मधुशाला।

बजी न मन्दिर मे घडियाली,
चढ़ी न प्रतिमा पर माला,
बैठा अपने भवन मुअज्जिन
देकर मस्जिद मे ताला,
लुटे खजाने नरपतियो के
गिरी गढ़ो की दीवारें,
रहे मुबारक पीनेवाले,
खुली रही यह मधुशाला।

एक बरस मे एक बार ही
जगती होली की ज्वाला,
एक बार ही लगती बाजी,
जलती दीपो की माला,
दुनियावालो, किन्तु किसी दिन
आ मदिरालय मे देखो,
दिन को होली, रात दिवाली,
रोज़ मनाती मधुशाला।

सकुशल समझो मुझको, सकुशल
रहती यदि साकीबाला,
मंगल और अमंगल समझे
मस्ती में क्या मतवाला,
मित्रो! मेरी क्षेम न पूछो
आकर, पर मधुशाला की,
कहा करो 'जय राम' न मिलकर,
कहा करो 'जय मधुशाला'।

सूर्य बने मधु का विक्रेता,
सिंधु बने घट, जल, हाला,
बादल बन-बन आए साकी,
भूमि बने मधु का प्याला,
झड़ी लगाकर बरसे मदिरा
रिमझिम, रिमझिम, रिमझिम कर,
वेलि, विटप, तृण बन मैं पीऊँ,
वर्षाऋतु हो मधुशाला।

बजी नफीरी और नमाज़ी
भूल गया अल्लाताला,
गाज गिरी, पर ध्यान-सुरा में
मग्न रहा पीनेवाला,

शेख ! बुरा मत मानो इसको,
साफ़ कहूँ तो मस्जिद को—
अभी युगो तक सिखलाएगी
ध्यान लगाना मधुशाला !

मुसल्मान औ, हिन्दू है दो,
एक, मगर, उनका प्याला,
एक, मगर, उनका मदिरालय,
एक, मगर, उनकी हाला,
दोनो रहते एक न जब तक
मस्जिद - मन्दिर मे जाते,
लड़वाते है मस्जिद-मन्दिर,
मेल कराती मधुशाला !

मेरे अधरो पर हो अतिम
वस्तु न तुलसीदल, प्याला,
मेरी जिह्वा पर हो अतिम
वस्तु न गगाजल, हाला,
मेरे शव के पीछे चलने—
वालो, याद इसे रखना—
'राम नाम है संत्य' न कहना,
कहना 'सच्ची मधुशाला'।

मेरे शव पर वह रोए, हो
जिसके आँसू मे हाला,
आह भरे वह जो हो सुरभित
मदिरा पी कर मतवाला,
दे मुझको वे कधा जिनके
पद मद-डगमग होते हो,
और जलूँ उस ठौर जहाँ पर
कभी रही हो मधुशाला!

और चिता पर जाय उँडेला
पात्र न घृत का, पर प्याला,
घट बँधे अगूरलता मे
किंतु न जल हो, पर हाला,
प्राणप्रिये! यदि श्राद्ध करो तुम
मेरा तो ऐसा करना—
पीनेवालो को बुलवाकर,
खुलवा देना मधुशाला!

मै मदिरालय के अन्दर हूँ,
मेरे हाथो मे प्याला।,
प्याले मे मदिरालय बिंबित
करने वाली है हाला,

इस उधेड़ बुन मे ही मेरा
सारा जीवन बीत गया—
मै मधुशाला के अन्दर या
मेरे अन्दर मधुशाला !

बड़े-बडे नाज़ो से मैने
पाली है साकीबाला,
कलित कल्पना का ही इसने
सदा उठाया है प्याला !
मान-दुलारो से ही रखना
इस मेरी सुकुमारी को,
विश्व ! तुम्हारे हाथो मे अब
सौप रहा हूॅ मधुशाला !

[मधुशाला से]

प्याला

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय!

कल काल-रात्रि के अंधकार
में थी मेरी सत्ता विलीन,
इस मूर्तिमान जग में महान
था मैं विलुप्त कल रूप-हीन,

कल मादकता की भरी नींद
थी जड़ता से ले रही होड़,

किन सरस करों का परस आज
करता जाग्रत जीवन नवीन?

मिट्टी में मधु का पात्र बनूँ—
किस कुंभकार का यह निश्चय?

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन-मेरा परिचय!

भ्रम भूमि रही थी जन्म-काल,
था भ्रमित हो रहा आसमान,

उस कलावान का कुछ रहस्य
होता फिर कैसे भासमान!

जब खुली आँख, तब हुआ ज्ञात,
थिर है सब मेरे आस-पास,

समझा था सबको भ्रमित किन्तु
भ्रम स्वय रहा था मै अजान,

भ्रम से ही जो उत्पन्न हुआ,
क्या ज्ञान करेगा वह सचय!

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन-मेरा परिचय!

जो रस लेकर आया भूपर
जीवन-आतप ले गया छीन,
खो गया पूर्व गुण, रंग रूप
हो जग की ज्वाला के अधीन

मै चिल्लाया, क्यो ले मेरी
मृदुता करती मुझको कठोर?'

लपटे बोलीं, 'चुप, बजा-ठोंक
लेगी तुमको जगती प्रवीण।'

यह लो, मीना बाज़ार लगा,
होता है मेरा क्रय-विक्रय।

मिट्टी का तन मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय !

मुझको न सके ले धन कुबेर
दिखलाकर अपना ठाट-बाट
मुझको न सके ले नृपति मोल
दे माल खज़ाना, राज-पाट,

अमरों ने अमृत दिखलाया
दिखलाया अपना अमर लोक,
ठुकराया मैंने दोनों को
रखकर अपना उन्नत ललाट,

बिक, मगर, गया मैं मोल बिना,
जब आया मानव सरस-हृदय !
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय !

बस एक बार पूछा जाता
यदि अमृत से पड़ता पाला,
यदि पात्र हलाहल का बनता,
बस एक बार जाता ढाला,
चिर जीवन औ, चिर मृत्यु जहाँ
लघु जीवन की चिर प्यास कहाँ !

फिर-फिर जो होठो तक जाता
वह तो बस मदिरा का प्याला,
मेरा घर है अरमानो से
परिपूर्ण जगत का मदिरालय !
मिट्टी का तन, मस्ती का मन
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय !

मै सखी सुराही का साथी,
सहचर मधुबाला का ललाम,
अपने मानस की मस्ती से
उफनाया करता आठ याम,
कल क्रूर काल के गालो मे
जाना होगा—इस कारण ही
कुछ और बढ़ा दी है मैने
अपने जीवन की धूमधाम,
इन मेरी उलटी चालो पर
ससार खड़ा करता विस्मय।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय !

मेरे पथ मे आ-आकर के
तू पूछ रहा है बार-बार,

'क्यों तू दुनिया के लोगों में
करता है मदिरा का प्रचार ?'
मैं वाद-विवाद करूँ तुझसे,
अवकाश कहाँ इतना मुझको,
'आनंद करो'—यह व्यंग भरी
है किसी दग्ध-उर की पुकार,
कुछ आग बुझाने को पीते
ये भी, कर मत इनपर संशय!
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय!

मैं देख चुका जा मस्जिद में
झुक-झुक मोमिन पढ़ते नमाज़,
पर अपनी इस मधुशाला में
पीता दीवानों का समाज,
कह पुण्य कृत्य, यह पाप कर्म
कह भी दूँ, तो दूँ क्या सबूत!
कब कंचन मस्जिद पर बरसा ?
कब मदिरालय पर गिरी गाज ?
यह चिर अनादि से प्रश्न उठा
मैं आज करूँगा क्या निर्णय।

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन – मेरा परिचय ।

सुनकर आया हूँ मन्दिर में
रटते हरिजन थे राम-राम,
पर अपनी इस मधुशाला में
जपते मतवाले जाम-जाम,
पंडित मदिरालय से रूठा,
मैं कैसे मन्दिर से रूठूँ,
मैं फ़र्क़ बाहरी क्यों देखूँ,
मुझको मस्ती से महज़ काम ।
भय-भ्रांति-भरे जग में दोनों
मन को बहलाने के अभिनय !
मिट्टी का तन मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय !

संसृति की नाटक-शाला में
है पड़ा तुझे बनना ज्ञानी,
है पड़ा मुझे बनना प्याला,
होना मदिरा का अभिमानी
संघर्ष यहाँ किसका किसने;
यह तो सब खेल-तमाशा है,

वह देख यवनिका गिरती है,
समझा कुछ अपनी नादानी?
छिप जाएँगे हम दोनों ही
लेकर अपने-अपने आशय!
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय!

पल में मृत पीनेवाले के
कर से गिर भू पर आऊँगा,
था निर्मित मैं जिस मिट्टी से
उस मिट्टी में मिल जाऊँगा;
अधिकार नहीं जिन बातों पर,
उन बातों की चिंता करके
अब तक जग ने क्या पाया है,
मैं कर चर्चा क्या पाऊँगा?
मुझको अपना ही जन्म-निधन
है सृष्टि प्रथम, है अंतिम लय।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन—मेरा परिचय!

[मधुबाला से]

रात आधी हो गई है ?

जागता मैं आँख फाडे,
हाय, सुधियों के सहारे,
जब कि दुनिया स्वप्न के
जादू - भवन मे खो गई है!
रात आधी हो गई है!

सुन रहा हूँ, शाँति इतनी,
है टपकती बूँद जितनी
ओस की जिनसे द्रुमों का
गात रात भिगो गई है!
रात आधी हो गई है!

दे रही कितना दिलासा,
आ झरोखे से जरा - सा
चाँदनी पिछले पहर की
पास मे जो सो गई है!
रात आधी हो गई है!

———

बीते दिन कब आने वाले ?

मेरी वाणी का मधुमय स्वर
विश्व सुनेगा कान लगाकर,
दूर गये पर मेरे उर की
धड़कन को सुन पाने वाले!
बीते दिन कब आने वाले!

विश्व करेगा मेरा आदर
हाथ बढ़ाकर, शीश नवाकर,
पर न खुलेंगे नेत्र प्रतीक्षा
मे जो रहते थे मतवाले!
बीते दिन कब आने वाले!

मुझमे है देवत्व जहाँ पर
झुक जायेगा लोक वहाँ पर,
पर न मिलेंगे मेरी दुर्बलता
को अब दुलराने वाले!
बीते दिन कब आने वाले

[निशा निमन्त्रण से]

———

अब मत मेरा निर्माण करो !

तुमने न बना मुझको पाया,
युग-युग बीते, मै घबराया,
भूलो मेरी विह्वलता को.
निज लज्जा का तो ध्यान करो।
अब मत मेरा निर्माण करो।

इस चक्की पर खाते चक्कर,
मेरा तन-मन-जीवन जर्जर,
हे कुंभकार! मेरी मिट्टी को
और न अब हैरान करो।
अब मत मेरा निर्माण करो।

कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है;
कुछ मेरे भी वश मे, मेरा
कुछ सोच-समझ अपमान करो।
अब मत मेरा निर्माण करो।

[एकात सगीत से]

मुझे पुकार लो

इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो!

[१]

ज़मीन है न बोलती
न आसमान बोलता,
जहान देखकर मुझे
नहीं जबान खोलता

नहीं जगह कहीं जहाँ
न अजनबी गिना गया,

कहाँ-कहाँ न फिर चुका
दिमाग-दिल टटोलता,

कहाँ मनुष्य है कि जो
उमीद छोड़कर जिया,
इसीलिए अड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो,
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो!

[२]

तिमिर - समुद्र कर सकी
न पार नेत्र की तरी
विनष्ट स्वप्न से लदी
विषाद, याद से भरी,

न कूल भूमि का मिला
न कोर भोर की मिली,

न कट सकी, न घट सकी
विरह - घिरी विभावरी,

कहाँ मनुष्य है जिसे
कमी खली न प्यार की,
इसीलिए खडा रहा
कि तुम मुझे दुलार लो!
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो!

[३]

उजाड़ से लगा चुका
उमीद मैं बहार की,
निदाघ से उमीद की
बसंत से बयार की,

मरुस्थली मरीचिका
सुधामयी मुझे लगी,
अगार से लगा चुका
उमीद मैं तुषार की,
कहाँ मनुष्य है जिसे
न भूल शूल-सी गड़ी,
इसीलिए खड़ा रहा
कि भूल तुम सुधार लो!
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो!
पुकार कर दुलार लो,
दुलार कर सुधार लो!

———

तुम गा दो

[१]

तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए!
मेरे वर्ण-वर्ण विशृंखल
चरण-चरण भरमाए,
गूँज-गूँज कर मिटनेवाले
मैंने गीत बनाये,

कूक हो गई हूक गगन की
कोकिल के कठो पर,
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए!

[२]

जब-जब जग ने कर फैलाए,
मैंने कोष लुटाया,
रक हुआ मै निज निधि खोकर
जगती ने क्या पाया!
भेंट न जिसमें मै कुछ खोऊँ
पर तुम सब कुछ पाओ,
तुम ले लो, मेरा दान अमर हो जाए!
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए!

[३]

सुन्दर और असुन्दर जग मे
मैंने क्या न सराहा,
इतनी ममतामय दुनिया मे
मै केवल अनचाहा,
देखूँ अब किसकी रुकती है
आ मुझपर अभिलाषा,
तुम रख लो, मेरा मान अमर हो जाए!
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए!

[४]

दुख से जीवन बीता फिर भी
शेष अभी कुछ रहता,
जीवन की अन्तिम घड़ियों मे
भी तुमसे यह कहता,
    सुख की एक साँस पर होता
    है अमरत्व निछावर,
तुम छू दो, मेरा प्राण अमर हो जाए!
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए!

[सतरगिनी से]

श्री हरिवंश राय "बच्चन" के ग्रन्थ

काव्य—तेरा हार, मधुशाला, ख़ैयाम की मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशा निमत्रण, एकात सगीत, आकुल अंतर, विकल विश्व, सतरगिनी, हलाहल (अप्रकाशित)।

श्री उदय शंकर भट्ट

श्री उदयशकर भट्ट समार के एक तीव्र समालोचक हैं। उनकी समालोचना मे तर्क की अपेक्षा भावना की प्रधानता होती है और वे अपनी भावना मे मनुष्य के नैसर्गिक गुणो की प्रतिष्ठा विशेष रूप मे करना चाहते है।

उनकी भाव भूमि करुणा से निर्मित होती है। किन्तु वे करुणा की पृष्ठ-भूमि मे साहस और आशावाद की रेखा खीचते हैं। इसी आशावाद से उन्हे देश-प्रेम और देश के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना मिलती है। उनका यह देश प्रेम युग युग की सचित भावनाओ के सास्कृतिक वातावरण मे पोषित होता है। वे क्षणिक भावोन्माद मे विश्वाम नही रखते। उनका आत्मोत्सर्ग प्राणों के स्पन्दन मे अपना विकास देखता है।

श्री भट्ट जी का प्रकृति चित्रण भी भावना के आगे दब-सा जाता है। उनके प्रकृति सम्बन्धी समस्त चित्रो मे फूलो और लताओं की शोभा नही रहती, उनमे उनके हृदय का उल्लास या अवसाद अनेक रूपों मे निवास करता है। इस प्रकार श्री भट्ट जी अपने काव्य मे मनुष्य जीवन की विषमताओ को तथा उसके उतार-चढाव को बड़ी स्पष्ट दृष्टि से देखते हैं। जीवन की आलोचना तथा उसके ममस्त रूपो की समीक्षा उनके काव्य मे कहीं कहीं घोषणा के रूप मे हो उठी है।

श्री भट्ट जी के काव्य मे विचारों का प्रवाह अत्यन्त स्वाभाविक है। इस स्वाभाविकता को सुरक्षित रखने के लिये ही कही कहीं उन्हे मुक्त वृत्त का आश्रय लेना पडा है और अपने काव्य-सगीत के मोह को छोड देना पडा है। इतने पर भी उन्होंने अपनी पक्तियो मे नाद को स्थान दिया ही है।

श्री उदयशकर भट्ट मे आक्रोश है और उस आक्रोश की वेगवती धारा को उन्होंने उपयुक्त शब्दों के माध्यम से प्रवाहित किया है।

[अपनी कविताओ का प्रस्तुत सकलन उन्होने स्वय ही किया है अत. इन कविताओ के अन्त मे आधार भूत ग्रन्थो का नाम नहीं दिया जा सका।]

मैं पथिक अवरुद्ध पथ—

मै पथिक, अवरुद्ध पथ, कैसे, कहाँ, किस ओर जाऊँ ?

मधु पिपासा - भार लेकर
विश्व मे आया अकेला
भावना मे विश्व-वैभव—
ने मुझे आगे ढकेला
स्वप्न की उन्मुक्त तरुणी
पर स्वजीवन भार ढोया
जागरण मे स्वप्न खोये
स्वप्न मे ससार खोया
सुनो, युग युग की शिथिल
सब शृखलायें तोड डाली
श्वास पर अकित व्यथाएँ
प्यार के नीचे छिपा लीं
तुम न जानोगे कि कितने
गरल के घट पी चुका हूँ
तुम न समझोगे कि कितने
दुख पीकर जी चुका हूँ

आज रागो मे न जाने
महा भैरव बोलता क्यो ?
आज आँखो मे न जाने
तिमिर कोई घोलता क्यो ?
किन्तु मैने यही देखा
एक मै, आशा अनेको
एक छोटा दिल न जाने
प्यास क्यो उसमे अनेको
एक यौवन की लहर
आघात उस पर है अनेको
एक जीवन पर मरण के
दूत मुँह बाए अनेको
स्कन्ध निर्बल, सैकड़ो दुख-भार यह कैसे उठाऊँ ?
मै पथिक, अवरुद्ध पथ, कैसे, कहाँ, किस ओर जाऊँ ?
सामने यह लपलपाती
ज्वाल प्रलयकर जली है
और पीछे बाघिनी - सी
मृत्यु भी आती चली है
इधर नभ को चूमने वाला
भयावह गिरि खड़ा है
उधर यह उत्तुग लहरो
पर उछलता नद अड़ा है

शून्य पात्र, विहीन-धनुशर
नाव टूटी, पैर निर्बल
साँझ आती है घिरी, बढ़ती
अमा की रात पल पल
है नहीं विश्वास, साहस
पास, स्मृतियाँ वह- पुरानी
सौंप आया प्रिय जनों को
लहर-सी उठती जवानी
नभ गिरा जाता धरा पर
बोझ ले उन्माद का सब
काल का यह ग्रास-सी
खाने चली बिजली धरा अब
दिशा भूलीं, पन्थ भूला
ज्ञान जाने किधर खोया
हाय, छोटे से हृदय पर
क्यों यहाँ अनुराग ढोया?
गिना करती तारिकाएँ
नित्य उठ अपनी व्यथाएँ
पुष्प के स्मय से वसन्ती
प्यार की गीली कथाएँ
जो जवानी गुदगुदी
उल्लास में भर नित्य पीती

जो खिला मधुमास सा
प्रिय-हास पीकर नित्य जीती
जो कटीली भौह का
विक्षेप - शर पी जी रही थी
अमृत की शत निर्भरी की
लहर से सुख-सी रही थी
जो नशीली आँख सी
जग मे विजयिनी हो रही थी
जो कली औ, कुसुम के
अवकाश सी नव हो रही थी
आज वे उल्लास रवि सम
तिमिर पारावार डूबे
जागरण भी आज मुझसे
स्वप्न के सम द्वार डूबे
आज जीवन का निपीड़ित
मरण धन ककाल हूँ मे
आज मणि से हीन, गत-मद
सँपेरे का व्याल हूँ मे
बढ़ रही है आग चारो ओर अब किसको बुलाऊँ ?
मै पथिक, अवरुद्ध पथ, कैसे, कहाँ किस ओर जाऊँ ?

युग युग का मेरा रुद्ध मौन

मजदूर

युग युग का मेरा रुद्ध मौन मेघो के गर्जन-सा महान।
मुझ पीडित के सब प्राण चूस अपरूप हो उठा मूर्तिमान
चींटी सा निर्बल मम समाज रेंगती भूख-व्याकुल कतार
मेरी निशि डाँसो का विलास मेरा दिन मिल का अंधकार
मेरी बरसाते आँसू रे, मेरा बसन्त पीला शरीर
गरमी झरनो सा स्वेद-स्रोत मेरे साथी दुख, दर्द, पीर
दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे उन्हे आराम मिला
बलि दे देने को प्राण मिले हण्टर को सूखा चाम मिला
कुछ रुखे सूखे टुकड़ो पर बच्चो का गला हलाक किया
बीवी की आशा कुचल, मसल जीवन यो ही बेबाक किया
क्या किया सुनहला सा जीवन सूखे टुकडो पर दे डाला
कुछ पैसो पर आशाएँ दी मैशीनो की पी पी ज्वाला
वे आज स्वर्ग के स्वाद चाख, वैभव गिरि चढ़ छूते तारे
मैं फाँक रहा हूँ इधर धूल औ' चाट रहा आँसू खारे
अब उलट-पुलट दूँगा समाज अपने अपार बलिदानो से
अब और न मागूंगा भिक्षा गिडगिड़ा कभी धनवानों से।

मै शैल शिखर से खींच विभव पैरो से रगड़ मसल दूँगा
मै यम दाढ़ो से मरण खींच जीवन मे उन्हें बदल दूँगा
हम मानव है, सम है, शुभ है, चाँदी ही है सर्वस्व नहीं
समता से प्यार मनुज-सेवा सत्पथ पर चलना ह्रस्व नहीं
हम हैं विराम के महारूप द्युति द्युमणि परमसुख सन्निधान
युग युग का मेरा रुद्ध मौन मेघो के गर्जन - सा महान।

मेघ-गीत

आ गये घन मोतियो का हार ले।
नील नभ के हृदय मे सब प्यास सावन की लिये वे
जलन अपनी को बुझाने अश्रु से तर दिल किये वे
किसी क्रन्दन के स्वरो से मूर्छनाएँ राग की भर
आग सी भर कर हृदय मे रवकर मुक्ता दल लिये वे
आह भर भर गिर रहे है किसी प्रिय का प्यार ले।
आ गये घन आँसुओ का हार ले।
सदा आँसू बन बहा दिल प्रेम पन्था मे चले जो
प्यार उनका जल उठा सब, किसी रवि-मणि से मिले जो
सदा अपनापन भुला चिनगारियो से उड़ रहे वे
सदा सिरहाने खडे पतझड़ हँसे उस पथ चल जो
और जीवन मे पराजित, गर्जना ससार ले।
आ गये घन आँसुओ का हार ले।

रात अपनी आग की चिनगारियाँ लाई बुझाने
और पहलू में उफनती साँस की मृदु तह बिठाने
यह उसी की साध पानी हो गगन के अंक फैली
रे, उसी की साध में कुछ शेष जीवन-क्षण सुलाने
क्षणिक जीवन में अचानक द्वन्द्व - पारावार ले।
आ गये घन मोतियों का हार ले।

लुई सुई और शेंकाई

[मुक्तवृत्त]

धूम्रहीन धवल अमृत-सिक्त दीप-शिखा;
फुल्ल मालती, अमंद मंद मंद रस-सिक्त मुक्ता-वल्लरी सी थी
एक नारी; यौवन की पूर्णिमा, धम्मिल घन,
सुरति - प्रपंच शुभ्र,
अभ्रहीन शारदीया—
लुई सुई शक्तिमयी कामिनी जापान-मणि
भामिनी कुतूहल की, मुक्ति जाति-बन्धन की,
देश की, समाज संस्कार-भार सब ही की।
किया गठबन्धन औ, स्नेह प्राण-भेद चीर
चीन के नवीन प्रिय शेंकाई तरुण,
हृष्ट-पुष्ट, वज्रयष्टि मंजु कांति पुंज से ही

यौवन के रस-से अनग-रति दम्पती-से
हृदय अभग एक प्राण, एक कल्पना-से,
एक श्वास, एक रस, एक मन, एक रूप
रहते थे,
सुरभि समीर से,
लता से तरु,
नदी जैसे तट से ऽम्बुधर चल दामिनी से,
प्राण जैसे आशा से,
हृदयुत साहस से।
बीतते थे दिन—
सुख-राशि से विभोर और
आशा से,
उमग से,
उछाह से अथाह तल।
आते जान पाए नहीं,
जाते जान पाए नहीं,
युग से प्रलम्ब;
किन्तु सुखहित,
मोद हित,
क्षण से अधिक अथ नश्वर अदुःख घन।
बीतती थी रातें—
कहाँ बीततीं सुहाग भरी

प्रेम का सरोज लिए,
विकसित,
सुरभित,
मोदहित,
मदहित,
रतिहित,
अतिरति, अतिगति, वक्रमति मंजु-मंजु।
बहती निखिल ऋतु एक घन प्रेम पूर,
आशा ले अनन्त, परिभाषा ले अनन्त,
किन्तु सान्त था न कुछ भी।
कभी भी प्रिय बाहु-लता
वेष्टित
अखड अमरत्व-जैसा प्रतिपल।
वर्ष-वर्ष पल जैसे
बीतते थे दोनो के ही,
दोनो थे अभिन्न मत
दोनो अन्योन्य गत
दोनो प्रेम-लथपथ
वारुणी मे मद जैसे
लीन-प्रिय-प्रियतमा, एक-दूसरे मे अति।
दो थीं, दो किरण
दो ही आँखें

औ हृदय दो ही
स्नेह समुद्गार
ओष्ठद्वय के प्रमत्त स्मय
और दोनो नेत्रों की प्रसन्न सुख-निर्झरी-सी।
शेकाई आता बरसात-सी हँसी को भरे
नित्य घर,
और था बिखेरता अमद अट्टहास नित्य
शुभ्र मन-सैकत 'उ'
चिर-चिर-चिर-काल।
कहीं उच्च पद पर कार्य करता था वह
टोकियो मे।
एक दिन
एक साझ
कण्ठ तोड़
स्वर जोड
घर-घर फटा स्वर
बल और दर्प लिए टूटे हुए वृक्ष जैसा अधड़ का,
अम्बर से वज्रपात
भूधर से विस्फोट
हृदय में भर कर।
'रेकिट' था हाथ मे ही
गुमसुम, चुप चुप

निष्प्रभ, निश्चल,
रुग्ण युग-युग का।
"क्या हुआ, हुआ क्या, कहो
प्रियतम
मेरे प्रिय ?"
लुई सुई कहने लगी खिन्न, उद्भ्रान्त, क्लान्त,
भर दी गई हो
मानो वह्नि नस-नस मे
अवश-विवश मति उत्तर के लिए व्यग्र।
"आज ही है जाना,
आज रात देश छोड़ देना।
तुम्हे तज, शिशु तज, घर बार ताना-बाना।
प्रेम मे है देश खडा—
(—अचल, अटल फ्यूजीयामा—)
प्रेम से है देश बडा
आज ही है जाना, प्रिये।"
बज्राहत, तरुभ्रष्ट लतिका-सी, दामिनी-सी,
मेघ की वितर्कना-सी, अज्ञ-सी निरुद्ध नारी,
चकित हुई-सी रुद्ध-कण्ठ बद्ध बोली यो—
"क्या कहा ?
कहो न फिर,
कौन देश,

जाना कहाँ ?
मैं भी तो चलूँगी, सब ले चलूँगी—
हृदय-तरंगे दोनों
जहाँ तुम जाओ, नाथ !
बोलो, कहाँ जाना होगा ?"
वीर सब श्रम-काई बोल उठा शोकाई—
"देश से है युद्ध छिड़ा,
देश से है शत्रु भिड़ा।"
कौन शत्रु ?
जापान ?
किससे ?
महान चीन देश से ?
कब सुना ?"
'आज ही तो अभी-अभी,
इसीलिए जाना होगा,
तुम्हें प्रिय आज तज।
जय देश, जय देश !"
तो क्या यह प्रेम हुआ मेरा एक कल्पना ही ?'
शून्य की विभावना ही ?
नश्वर विकामना सा ?
छेद्य
सुख-भेद हाय !

किन्तु प्रेम स्वर्ग - भूति
खडनीय नहीं, दयनीय नहीं है, प्रिय!
उस दिन—अन्धकार
अन्धकार तीव्र धार
नदी थी बहाती जब
मुझे ही निगलता-सी
और तुम आ गये थे मेरे नव भाग्य बन
नव जन्म, नव आशा, नव श्वास, नव भाषा, सब
कुछ नव नव
बन कर अभिनव।
तुमने बचाया लेके दृढ़ बाहुपाश मुझे
मृत्यु से ही और अपमृत्यु से सतत छीन।
आज वह भग्न होगा स्वप्न क्या अकाल मे ही?
प्रलय प्रकम्प बन और तोड़ कुसुमित कलिका को
वज्र से ही पीस देगा!
नहीं, तुम मत जाओ, मेरे प्राण छिप जाओ
उर मे समाओ, रोम-रोम की पुकार बन।"
"किन्तु मेरे देश की पुकार वज्र-घटिका सी
मुझको बुलाती—नस-नस में
ध्वनित हो।
प्राण बोलते हैं, श्वास प्रश्वास बोलते हैं,
चीखती है धमनी

कठिन रुक पाना अब ।
देह से है उच्च देश
नेह से है उच्च देश
प्राण से है उच्च देश ।"
जय देश, चीन देश ।"
'किन्तु यह प्रेम भी तो है महान, सत्य, प्रिय !
यह तो है नर स्वार्थ
लड़ते हो जैसे पशु छोटी छोटी वस्तु पर,
क्या न हम सब एक, एक ही समष्टि के है ?
मानव की परिभाषा भिन्न-भिन्न मूल है ।
एक को उजाड औ बसाता जो है अपने को
क्या न एक चाहता है चाहता जो दूसरा है ?
क्या है यही न्याय, हाय, हेय यह तुच्छ जग ?',
किया बाहु-पाश बद्ध, कण्ठ रुद्ध, प्रेम रुद्ध
चुम्बित कपोल, शेंकाई रुक उठा बोल—
"ठहरो, मुझे सोचने दो
सोचना न सीखा मैंने, सोचने का काम जिन्हे
वे ही तो बुलाते, सुनो—
मानव महान होगा, देश भी महान ही है,
उन्नत है जाति यदि उन्नत है देश भी जो,
सभी कुछ उन्नत, समुन्नत है विश्व यह
देश की पुकार सुन, छोड़ दूँ निरीह उसे

मै भी तो उसी का अग, मै भी तो उसी का श्वास
देश की पुकार प्रिय—सम्भव नही है अब –
व्यक्ति से समाज बडा उससे भी देश बडा,
देश ही है धर्म मेरा, देश ही है कर्म मेरा
देश है बुलाता सुनो—हाय, स्वप्न-भग हुए।"
गाढ़ कर आलिगन चूम चूम दोनो सुत
विदा हुआ शेकाई चीन के प्रयाण हित—
रोता हुआ, हॅसता-सा
पीडा को दबाये और गाता हुआ देश-गीत,
—गीत, जाति गीत, दबा दबा हाहाकार,
अनुपल चीत्कार,
बडवा-सा मथ मन
सभी स्वप्न, सभी सुख, सभी शान्ति खो के मानो
एक नेत्र अश्रु भरे
और दूसरे मे हर्ष
हृदय मे द्वन्द्व लिए
प्रेम लिए, व्यथा लिए
विष लिए, मृत्यु लिए
और अमरत्व लिए
सुख लिए, शक्ति लिए
अरि का विनाश लिए।
जाता चीर अन्धकार।

× × × ×

लुई सुई व्यक्त हत प्रेम की तरग भरी
करने लगी थी ग्लानि
रोती-सी बिसूरती।
इतने मे सुन पडा
गीत निज देश का ही, जाते थे महान वीर
चीन की विजय को —
'क्विक मार्च करते-से, सिह-से प्रमत्त जन
लुई सुई सुप्त सिहनी-सी उठ दौड़ी तब
और जाके पहुँची वह गुप्त दूतावास मे—
गई वहाँ
पकडाने हेतु
शत्रु मित्र शेंकई को ही।
किन्तु वह तीर सा गया था देश त्याग वीर
हाथ मे न आया शत्रु,
रह गई साँस तोड़।

× × × ×

एक दिन, एक साँझ उड़ी शत्रु-देश पर
और बरसाने लगी बम्ब तथा गोले वहाँ
अग्नि सम धाँय-धाँय पल-पल शत्रु पर।
उस धुआँधार मे, अनन्त अँधकार मे था
नीचे वहीं एक बचा नष्ट होते-होते यन्त्र

वायुयान नाशकारी—
अग्नि-सी उगल रहा पल-पल यान पर
गिर पडा वायुयान छिन्न-भिन्न
टूट फूट,
तारक-सा वेग लिए
कुछ दूर वहीं पास।
चीनी वीर देख दौडे ले प्रकाश मत्त मन
हर्ष से प्रमत्त मत्त महातन वारुणी-से
और देखा—रमणी थी एक वह
कॉप उठे प्राण एक सैनिक के देख यह
वज्राहत, हत आशा, चकित भ्रमित मन
चीत्कार कर गिर गया, उस शव पर
बोलकर शेकाई—"हाय, प्रिये लुई सुई,
हम मिले अन्त मे अनन्त धाम-पथ पर।"
मूक, निर्वाक् अन्य देखते थे जन सब,
खडे—खड़े,
ज्ञान हीन,
सज्ञाहीन—प्राणहीन।

जीवन

यह कैसा क्या मैंने पाया ?
क्या जाने, किस अनजाने में यह कटु कटुतर, यह मृदु मृदुतर
चल लहरों-सा चचल सुखकर
सित ओस-कणों सा जब तक ढल
स्मृतियों की ग्रन्थि बाँध अचल
मैं निज को बहलाने आया
यह कैसा क्या मैंने पाया ?
क्यों अनचाहा इसमें मिलता, औ चाहा मिलता नहीं खूब
मैं इसी दशा में ऊब ऊब
आशा-सी निज आँखें पसार
कुछ ढूँढ रहा हूँ बार बार
कुछ जाना कुछ न जान पाया
यह कैसा क्या मैंने पाया ?
रजनी में सरिता के समान, मैं देख पा रहा एक छोर
आगे की कोई नहीं कोर
क्या जानूँ केवल वर्तमान
दिन-सा उज्ज्वल निशि-सा अजान
मेरी सीमा ही बन आया
यह कैसा क्या मैंने पाया ?

सावन-गीत

घिर आओ उमड़ घुमड़ बादल
बरसो पल पल पीयूष धवल
छल छल छलके आनन्द अमल
ओ प्यासों के आशा सम्बल ?
जल रहे विश्व के प्राण इधर
मूर्छित जीवन के अन्तर तर
कलियों के सौरभ-सिक्त अधर
चेतना लुप्त प्रान्तर प्रान्तर
बरसो बरसो सरसो ओ घन,
हर्षित कर मानव का चेतन
प्लावित-सा चेतन बन उपवन
शिंजित जीवन का हो जीवन
स्फुलिंग अग्नि के बहे सकल
सब बहे गरल का ग्रीष्माचल
घिर आओ उमड़ घुमड़ बादल
तज क्षार पाप उन्मुक्त अमल
सुमनों के अधरों पर अविरल
अंकित कर दो युग युग का मद

युग युग का यौवन औ चचल
लहरो, लहरा दो हृदय हृदय
खोलो नव जीवन वातायन
झुलसे खारे आँसू के कन
मेरे युग युग पीडा कम्पन
हो शान्ति शक्ति मे परिवर्तन
छन छनन छनन छन नाच सजल
उल्लसित करो मेरा भूतल।

रात की गोद में

सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप,
सागर लहरो को सुला गोद, मुख चूम उमंगे रहा माप।
सब मूक नगर, पथ, गली, द्वार
नर मूक सो रहे पग पसार
आँखो मे भर कर अघ जघन्य
आँखो मे भरकर साध पुण्य
उर मे जीवन की आशाएँ,
आशाओ की मृदु भाषाएँ
कुछ शाप और अपलाप लिए
वरदान और अपमान लिए

अवसान कहीं, अरमान कहीं
कोने मे स्मृतियाँ कहीं मूक
चचल आकृतियाँ कही मूक
कुत्ते भी चुप, कौए भी चुप, तस्कर रखते पग दबा चाप।
सुनसान रात गुप चुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप,
सागर लहरो को सुला गोद, मुख चूम उमंगे रहा माप।
दिल जले समेटे हुए राख
मन चले बटोरे हुए खाक
कुछ पत्थर - से दिल निर्विकार,
कुछ पानी - से पिघले अपार
जीवन मे जिनको भार मिला,
केवल स्वप्नो मे प्यार मिला
वे मिलन लिए, वे जलन लिए,
वे डाह लिए वे चाह लिए
अवसाद कहीं, उन्माद कहीं,
जीवन मे जो कुछ कर न सके
अपने घावो को भर न सके
वे दिन से पा उपहास व्यङ्ग निशि मे करते गुपचुप विलाप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप,
सागर लहरो को सुला गोद, मुख चूम उमगें रहा माप।
मानिनी कहीं हैं रहीं जाग,
झूठे आँसू झूठा विराग

पर उमड रहा अनुराग हृदय—
आँसू से करती है अभिनय
दीपक से चितवन वक्र मिला,
प्रिय का विह्वल मन रही हिला

सब व्यर्थ विनय
बेचैन हृदय
बेचैन प्राण
बेचैन मान
उन्मन, उन्मन
विह्वल तन मन—
दम्पति के हैं तूफान मूक
दम्पति के हैं अरमान मूक

दीपक जल जल
धोता उर-मल
दोनो अपनापन भूल गये
दोनों निज चेतन भूल गये

दीपक की लौ-सी मूक मधुर दोनो की धड़कन रही काँप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र नभ मूक आप,
सागर लहरों को सुला गोद, मुख चूम उमंगे रहा माप।
शैशव की कहीं कहानी चुप,
है आँखो की नादानी चुप

अल्हड मस्ती का पानी चुप
औ उठती कही जवानी चुप
उठते उठते सब रह जाता,
चुपके चुपके कुछ कह जाता
उद्गार लिए अभिसार और
यौवन की मधुर मरोर और
अवशेष मधुर सब चले सिहर
सब अपना 'नव पथ' भूल गये
प्राणो मे लेकर शूल नये
वे भी करवट ले मचा रहे, आँखो मे भर कर नये ताप।
सुनसान रात गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र नभ मूक आप,
सागर लहरो को सुला गोद मुख चूम उमगे रहा माप।
कुछ स्वामी की झिड़कन लेकर
बेचैनी ऊबा मन लेकर
तन भूख, भर्त्सना-धन लेकर
जर्जर तन मन, जर्जर जीवन
विगलित सम्बल
अनुदिन पल पल
टूटी आहें
टूटी चाहे
प्राणों मे हाहाकार लिए
आँसू का जल-उपहार लिए

सो रहे सहेजे हुए हृदय, अपने दुनिया के सभी पाप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप,
सागर लहरों को सुला गोद, मुख चूम उमगें रहा माप।
कुछ सोते सुख की लिए साँस,
कुछ सोते कल की लिए आस
क्या जाने कल भी जिन्हें सत्य
लेने दे जीवन का न पथ्य
सब अलग अलग
मानव का जग
चुप्पी भी चुप
अन्धेरा गुप
केवल मेरा कवि रहा जाग
भर हृदय आग
वाणी विहाग
इस महानींद का ताल प्रखर
हर रात गूँजता रह रह कर
पीता है निशि के खप्पर भर जग की साँसों को नाप नाप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप,
सागर लहरों को सुला गोद मुख चूम उमगे रहा माप।

— ——

श्री उदयशंकर भट्ट के ग्रन्थ

काव्य—तक्षशिला, राका, मानसी, विसर्जन, अमृत और विष, युगदीप।

नाटक—चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य, दाहर, अम्बा, मत्स्यगधा, सगरविजय, विश्वामित्र, कमला, राधा, अभिनव एकाकी नाटक, स्त्री का हृदय, तीन नाटक।

———

राष्ट्रीय धारा

श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

एक भारतीय आत्मा

श्री चतुर्वेदी जी हमारे राष्ट्रीय कवि हैं। उन्होंने 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से जो रचनाएँ की हैं वे मानों नवीन रक्त से लिखी गई हैं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में उनके भाव ऐसे जाग गये हैं। जैसे



प्रभात में मन्द वायु से फूल जाग उठते हैं। प्रकृति के चित्रण में भी जब उनकी राष्ट्रीय भावना जागती है तो वे उस ब्रह्मवादी जैसे ज्ञात होते हैं जो अणु-अणु में अपने आराध्य को देखता है वे इस क्षेत्र में बहुत सफल हैं। प्रकृति के कुसुम भी उस पथ पर गिरना चाहते हैं जहाँ वीर बलि-वेदी पर अपना सिर चढ़ाने जाते हैं। उनकी कोकिला भी देश-प्रेम के राग से कूजती है। प्रकृति और देश-प्रेम का यह परिश्रम चतुर्वेदी जी की विशेषता है।

श्री चतुर्वेदीजी द्विवेदीकाल के कवि हैं। उन्होंने रहस्यवाद की छाप अपनी कविता में प्रारम्भ से ही रक्खी है, किन्तु वह रहस्यवाद देश-प्रेम के क्रोड़ ही में है। संसार की साधारण वस्तुओं में भी वे संकेत देखते हैं

और अपनी विचित्र शब्दावली मे एक रूपक बॉध देते है। उनकी शब्दावली विचित्र इसलिए है कि उसके चित्र सकलन मे कोई विशेष रुचि नहीं है।

दमयन्ती के एक चीर की मॉग हुई बाज़ी पर,
देश-निकाला स्वर्ग बनेगा तेरी नाराज़ी पर।

बाजी और नाराजी दमयन्ती के चीर और स्वर्ग की कलाभिव्यक्ति के प्रतिकूल हैं, वे चाहे भाव-प्रकाशन के कितने ही अनुकूल क्यों न हो। भावना को प्रकाशित करने मे समर्थ जो शब्द कवि के मस्तिष्क मे आते है उन्हे ही स्वाभाविक रूप से वह सामने रख देता है। फारसी और अरबी के शब्दों से कवि का कोई वैमनस्य नहीं और वह शुद्ध तत्सम सस्कृत शब्दो की पक्ति मे उन्हे सादर बिठला देता है। भाव-प्रकाशन कवि की शैली का चरम उद्देश्य है।

श्री चतुर्वेदीजी की कविताओं मे कही कही अस्पष्टता भी है। इसका कारण यह है कि उनके देश-प्रेम के साथ उनके आराध्य की अनुभूति भी चलती है और यह अनुभूति अस्पष्ट होने के कारण उनकी कविता मे भी अस्पष्टता ला देती है।

श्री चतुर्वेदी जी ने एक नाटक लिखा है— श्री कृष्णार्जुन युद्ध। उसमे चाहे पात्रों का मनोवैज्ञानिक सघर्ष न हो लेकिन काव्य और कला का स्पष्टीकरण प्रत्येक स्थान पर है। ऐसे साहित्यिक नाटक हिन्दी मे कम हैं।

राष्ट्रीय कवि के नाते श्री माखनलाल चतुर्वेदी सर्वमान्य और प्रतिष्ठित हैं। उन्हे सवत् २००० मे 'हिमकिरीटिनी, काव्य सग्रह पर देव-पुरस्कार मिल चुका है।

कुंज कुटीरे यमुना तीरे

पगली तेरा ठाट ! किया है रक्ताम्बर परिधान,
अपने काबू नहीं और यह सत्याचरण विधान !
उन्मादक मीठे सपने ये और अधिक मत ठहरें !
साक्षी न हों न्याय-मन्दिर में कालिन्दी की लहरें !

डोर खींच, मत शोर मचा,
मत बहक, लगा मत ज़ोर,
माँझी, थाह देख कर आ तू,
मानस - तट की ओर।

कौन गा उठा ? अरे करें मत ये पुतलियाँ अधीर,
इसी क़ैद के बन्दी हैं वे श्यामल-गौर शरीर।
पलकों की चिक पर हृत्तल के छूट रहे फव्वारे,
निश्वासें पंखे झलती हैं, उनसे मत गुंजारें

यही व्याधि मेरी समाधि है,
यही राग है त्याग,
क्रूर तान के तीखे शर मत
छेदें मेरे भाग।

काले अन्तस्तल से फूटी कालिन्दी की धार,
पुतली की नौका पर लायी मै दिलदार उतार,
बादबान तानी पलको ने—हा यह क्या चीत्कार ?
कैसे ढूढूँ ? हृदय-सिन्धु मे, छूट पडी पतवार !

भूली जाती हूँ अपने को,
प्यारे मत कर शोर
भाग नहीं, गह लेने दे
तेरे अम्बर का छोर।

❀ ❀ ❀ ❀

अरे बिकी बेदाम कहाँ मै ? हुई बडी तकसीर,
धोती हूँ जो बना चुकी हूँ पुतली मे तसवीर,
डरती हूँ दिखलायी पड़ती तेरी उसमे वशी,
कुंज-कुटीरे-यमुना-तीरे तू दिखता यदुवशी !

अपराधी हूँ मजुल मूरत, ताकी
हा ! क्यो ताकी ?
वनमाली ! मुझसे न मिटेगी,
ऐसी बाँकी झाँकी।

अरी, खोद कर मत देखे, ये अभी पनप पाये हैं।
बड़े दिनो मे, खारे जल से कुछ अकुर आये है;
पत्ती को मस्ती लाने दे, कलियाँ कढ़ जाने दे,
अन्तरतर को अन्त चीर कर अपनी पर आने दे।

ह्री-तल वेध, समस्त खेद तज,
मै दौड़ी आऊँगी,
नील सिन्धु-जल धौत चरण पर,
चढ़ कर खो जाऊँगी।

———

पुष्प की अभिलाषा

चाह नही मै सुर बाला के
गहनो मे गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी-माला मे
बिंध प्यारी को ललचाऊ,
चाह नहीं, सम्राटो के शव पर
हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवो के शिर पर
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली!
उस पथ मे देना तुम फेक,
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।

खीझमयी मनुहार

किन बिगडी घडियो मे झाँका ?
        तुझे झाँकना पाप हुआ,
आग लगे—वरदान निगोडा
        मुझ पर आकर शाप हुआ !
जाँच हुई, नभ से भूमडल
        तक का व्यापक माप हुआ,
अगणित बार समा कर भी
        छोटा हूँ, यह सन्ताप हुआ !
अरे अशेष ! 'शेष' की गोदी
        तेरा बने बिछौना सा ।
आ मेरे आराध्य ! खिलालूँ
        मै भी तुझे खिलौना सा ।



वेदना गीत से

कम्पन के तागे मे गूँथे से क्यो लहराते हो ?
    मारुत ही क्यो, तरुवर-कुजो मे न विलम पाते हो ?
    और, पछियो की तानो से जरा न टकराते हो ?
    टेकड़ियो के पार, कहो, कैसे चढ़ कर आते हो ?
    आते-जाते हो या मुझमे आकर छिप जाते हो ?

भ्रमित की मति सी परम गँवार
आह की मिटती-सी मनुहार,
पूछती है तुमसे दिलदार—

कौन देश से चले ? कौन-सी मंजिल पर जाते हो ?
कसक चुटकियों पर चढ़कर, क्यों मस्तक डुलवाते हो ?
कम्पन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?

क्या बीती है ?—आजाने दो उसको भी इस पार,
क्यों करते हो लहराने का भूतल में व्यापार ?
चट्टानों से बनी विन्ध्य की टेकडियों के द्वार—
वायु विनिन्दित तरलाई पर तैर रहे बेकार—

छटपटाहट को यों मत मार,
पहन सागर-लहरों का हार,
खोल दे कोटि कोटि हृद् द्वार,

कहाँ भटकते, यहाँ ? प्राण लेते बन राग बिहाग !
शीतल अंगारों से विश्व जलाने क्यों जाते हो ?
कम्पन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?

किस के लिए छेडते हो अपनी यह तरल तरंग ?
किसे डुबोने को घोला है, यह लहरों पर रंग ?
कोई गाहक नहीं अरे, फिर क्यों यह सत्यानाश ?
बाँस, काँस, कुश से सहते हो लहरों का उपहास ?

अरे वादक ! क्यों रहा उडेल,
खेलता आत्म-घात का खेल,
उजड़ता व्यर्थ स्वरो का मेल

यह सब है किस लिए बिना पखो की मृदुल उडान !
दूर नहीं होते, माना, पर पास नही आते हो ?
कम्पन के तागे मे गूँथे-से क्यो लहराते हो ?
मानूँ कैसे ? कि यह सभी सौभाग्य सखे ! मुझ पर है ?
है तो मेरे लिए पास आने मे किस का डर है ?

मेरे लिए उठेगी आशाओ मे ऐसी ध्वनियाँ !
करुणा की बूँदो ! काली होगी उनकी जीवनियाँ !

और, वे होगी क्यो उस पार ?
यही होगी पलकों के द्वार,
पहन मेरी श्वासो के हार !

आह ! गा उठे, हेमाचल पर तेरी हुई पुकार—
बनने दे तेरी कराह को परसो की हुँकार—
और जवानी को चढ़ने दे बलि के मीठे द्वार,
सागर के धुलते चरणो से उठे प्रश्न इस बार—

'अन्तस्तल से अतल-वितल को क्यो न बेध जाते हो ?
अजी, वेदना-गीत गगन को क्यो न छेद जाते हो ?
उस दिन ? जिस दिन महानाश की धमकी सुन पाते हो
कम्पन के तागे मे गूँथे-से क्यो लहराते हो !

क़ैदी और कोकिला

क्या गाती हो ? क्यूँ रह-रह जाती हो ? कोकिल ! बोलो तो ?
क्या लाती हो ? सन्देशा किसका है ? कोकिल ! बोलो तो ?
ऊँची काली दीवारो के घेरे मे,
डाकू, चोरो, बटमारो के डेरे मे,
जीने को देते नहीं पेट-भर खाना,
मरने भी देते नहीं—तड़प रह जाना !
जीवन पर अब दिन-रात कड़ा पहरा है,
शासन है या तम का प्रभाव गहरा है ?
हिमकर निराश कर गया, रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यूँ आली ?
क्यूँ हूक पड़ी ? वेदना बोझवाली सी , कोकिल ! बोलो तो ?
क्या लुटा ? मृदुल वैभव की रखवाली सी—कोकिल ! बोलो तो ?
बन्दी सोते हैं है घर्घर श्वासों का,
दिन के दुख का रोना है निश्वासो का,
अथवा स्वर है—लोहे के दरवाज़ों का,
बूटो का, या सन्त्री की आवाज़ो का,
या गिनने वाले करते हाहाकार,
सारी रातो हैं—एक, दो, तीन, चार !
मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली,
बेसुरा ! मधुर क्यो गाने आयी आली ?

क्या हुई बावली ? अर्द्धरात्रि को चीखीं—कोकिल ! बोलो तो ?
किस दावानल की ज्वालाएँ हैं दीखी—कोकिल ! बोलो तो ?
निज मधुराई को कारागृह पर छाने,
जी के घावों पर तरलामृत बरसाने
या वायु-विटप-बल्लरी चीर, हठ ठाने—
दीवार चीरकर अपना स्वर अज़माने,
या लेने आयी इन आँखों का पानी
नभ के ये दीप बुझाने की है ठानी !
खा अन्धकार करते वे जग रखवाली,
क्या उनकी आभा तुझे न भायी आली ?
तुम रवि किरणों से खेल जगत को रोज जगाने वाली—
कोकिल ! बोलो तो ?
क्यों अर्धरात्रि में विश्व जगाने आयी हो मतवाली—
कोकिल ! बोलो तो ?
दूबों के आँसू धोती, रवि-किरणों पर,
मोती बिखराते विन्ध्या के झरनों पर
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
ब्रह्मांड कँपाती उस उद्दंड पवन पर,
तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा,
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा,
अब सर्वनाश करती क्यों हो ? तुम जाने या बे-जाने—
कोकिल ! बोलो तो ?

क्यों तमोपत्र पर विवश हुई लिखने मधुरीली तानें—
कोकिल! बोलो! तो?
क्या? देख न सकती जंजीरों का गहना
हथकड़ियाँ क्यों? यह ब्रिटिश राज का गहना!
गिट्टी पर! अँगुलियों ने लिक्खे गान!
कोल्हू का चर्रक चूँ—जीवन की तान!
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
खाली करती हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ।
दिन में मत करुणा जगे, रुलाने वाली!
इसलिए रात में गज़ब ढा रही आली!
इस शान्त समय में अन्धकार को बेध, रो रही क्यों हो—
कोकिल! बोलो तो?
चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज इस भाँति बो रही क्यों हो—
कोकिल! बोलो तो?
काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली,
काली लहर, कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली,
टोपी काली, कमली काली,
मेरी लौह-शृंखला काली,
पहरे की हुँकृति की व्याली,
तिस पर है गाली! ऐ आली!

इस काले सकट-सागर पर मरने की मदमाती -
कोकिल ! बोलो तो !
अपने गति वाले गीतो को किस विधि हो तैराती—
कोकिल ! बोलो तो !

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली,
तेरा नभ भर मे सचार !
मेरा दस फुट का ससार !
तेरे गीतो उठती वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह !
देख विषमता तेरी मेरी,
बजा रही तिस पर रणभेरी !

इस हुँकृति पर, अपनी कृति से, और कहो क्या कर दूँ ?—
कोकिल ! बोलो तो ?
मोहन के व्रत पर, प्राणो का आसव किस मे भर दूँ ?—
कोकिल ! बोलो तो ?

फिर कुहू—अरे क्या बन्द न होगा गाना ?
इन अन्धकार मे मधुराई दफनाना !
नभ सीख चुका है कमज़ोरो को खाना
क्यो बना रही अपने को उसका दाना ?
तिस पर, करुणा गाहक बन्दी सोते हैं,
स्वप्नो मे स्मृतियाँ श्वासो से धोते हैं !

सीकचे-रूपिणी लोहे की पाशो मे
क्या भर दोगी, बोलो निद्रित लाशो मे ?
क्या ? घुस जायेगा रुदन तुम्हारा निश्वासो के द्वारा—
कोकिल ! बोलो तो ?
और प्रात मे हो जायेगा उलट पुलट जग सारा—
कोकिल ! बोलो तो ?

———

उन्मूलित वृक्ष

भला किया जो इस उपवन के
सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फल वाले
ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो पनपाओ
लगा चुके हो जो कलमे,
भला किया, दुनिया पलटा दी
प्रबल उमगो के बल मे !
लो हम तो चल दिये,
नये पौधो प्यारो ! आराम करो।
दो दिन की दुनियाँ में आये,
हिलो-मिलो कुछ काम करो।

पथरीले ऊँचे टीले हैं,
रोज़ नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहाँ आते हैं,
जो थे बागीचे आते।
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़ कर,
बनचर भी खा जाते है,
शाखा - मृग कन्धो पर चढ़ कर
भीषण शोर मचाते हैं।

*　　　*　　　*

दीनबन्धु की कृपा, बन्धु!
जीयित हैं, हाँ हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुज़रना,
हम वे ही फल वाले हैं!

[त्रिधारा से]

जवानी

आज अन्तर मे लिये पागल जवानी!
कौन कहता है कि तू
विधवा हुई, खो आज पानी?

चल रहीं घड़ियॉ,
चले नभ के सितारे,
चल रहीं नदियॉ,
चले हिम-खड प्यारे,
चल रही है सॉस,
फिर तू ठहर जाये?
दो सदी पीछे कि
तेरी लहर जाये?

पहन ले नर-मुंड-माला,
उठ स्वमुड सुभेस कर ले,
भूमि-सा तू पहन बाना आज धानी
प्राण तेरे साथ हैं, उठ री जवानी!

द्वार बलि का खोल
चल, भूडोल कर दे,
एक हिम गिरि एक सिर
का मोल कर दे,
मसल कर, अपने
इरादो सी, उठा कर,
दो हथेली है कि
पृथ्वी गोल कर दें?

रक्त है? या है नसो मे क्षुद्र पानी!
जॉच कर, तू सीस दे दे कर जवानी?

वह कली के गर्भ से फल
रूप मे, अरमान आया!
देख लो मीठा इरादा, किस
तरह, सिर तान आया!
डालियो ने भूमि पर लटका
दिये फल, देख आली!
मस्तको को दे रही
सकेत कैसे, वृक्ष-डाली!

फल दिया? या सिर दिया? तरु की कहानी,
गूँथ कर युग मे, बताती चल जवानी!

श्वान के सिर हो—
चरण तो चाटता है!
भोंक ले—क्या सिंह
को वह डाँटता है?
रोटियाँ खायीं कि
साहस खो चुका है,
प्राणि हो पर प्राण से
वह जा चुका है।

तुम न खेलो ग्राम-सिंहो में भवानी!
विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी!

ये न मग हैं, तव
चरण की रेखियाँ हैं,
बलि दिशा की अमर
देखा-देखियाँ हैं।
विश्व पर, पद से लिखे
कृति लेख हैं ये,
धरा तीर्थों की दिशा
की मेख हैं ये।

प्राण-रेखा खींच ये, उठ बोल रानी!
री मरण के मोल की चढ़ती जवानी!

टूटता - जुड़ता समय
'भूगोल' आया,
गोद मे मणियाँ समेट
खगोल आया,
क्या जले बारूद ?—
हिम के प्राण पाये !
क्या मिला ? जो प्रलय
के सपने न आये !
धरा ?—यह तरबूज़
है दो फाँक कर दे,

चढ़ा दे स्वातन्त्र्य-प्रभु पर अमर पानी।
विश्व माने—तू जवानी है, जवानी !

लाल चेहरा है नहीं—
फिर लाल किसके ?
लाल ख़ून नहीं ?
अरे कंकाल किसके ?
प्रेरणा सोयी कि
आटा - दाल किसके ?
सिर न चढ़ पाया
कि छाया भाल किसके

नेह की वाणी कि हो आकाश-वाणी,
धूल है जो जग नहीं पायी जवानी।

विश्व है असि का?—
नहीं सकल्प का है।
हर प्रलय का कोण
काया - कल्प का है,
फूल गिरते, शूल
शिर ऊँचा लिये हैं,
रसो के अभिमान
को नीरस किये हैं।

खून हो जाये न, तेरा देख, पानी,
मरण का त्यौहार, जीवन की जवानी।

घर मेरा है?

क्या कहा, कि यह घर मेरा है?

जिसके रवि ऊगें जेलों मे,
सन्ध्या होवे वीराने में,
उसके कानो में क्यो कहने
आते हो? यह घर मेरा है?

है नील चँदोवा तना कि झूमर
झालर उसमें चमक रहे,
क्यों घर की याद दिलाते हो,
जब सारा रैन बसेरा है?

जब चाँद मुझे नहलाता है,
सूरज रोशनी पिन्हाता है,
क्यों दीपक लेकर कहते हो,
यह तेरा है, यह मेरा है?

ये आये बादल घूम उठे,
ये हवा के झोंके झूम उठे,
बिजली की चम-चम पर चढ़
गीले मोती भू चूम उठे,

फिर सनसनाट का ठाठ बना
आ गयी हवा, कजली-गाने,
आ गयी रात, सौगात लिये,
ये गुलसब्बो मासूम उठे।

इतने में कोयल बोल उठी,
अपनी तो दुनिया डोल उठी,
यह अन्धकार का तरल प्यार,
सिसकें बन आयीं जब मलार

मत घर की याद दिलाओ तुम,
अपना तो तो काला डेरा है,
कलरव बरसात, हवा ठडी,
मीठे दाने खारे मोती,

सब कुछ ले, लौटाया न कभी,
घर वाला महज लुटेरा है।

हो मुकुट हिमालय पहनाता,
सागर जिसके पद धुलवाता
यह बँधा बेडियो मे मन्दिर
मसजिद गुरुद्वारा मेरा है!

क्या कहा कि यह घर मेरा है?

हिमकिरीटिनी

री सजनि! बन-राजि की श्रृंगार।

समय के वन-मालियो
की कलम के वरदान,
डालियो, काँटों भरी
के ऐ मृदुल-अहसान।

मुग्ध मस्तों के हृदय के
मुँदे तत्व अगाध,
चपल अलि की परम
सचित गूँजने की साध।

बाग़ की बागी हवा
की मानिनी खिलवाड,
पहन कर तेरा मुकुट
इठला रहा है झाड़।

खोल मत निज पखियो का द्वार,
री सजनि! वन-राजि की शृंगार।

आ गया वह वायु-वाही,
मित्र का नव राग
बुलबुलें गाने लगी हैं
जाग प्यारी! जाग!

प्रेम - प्यासे गीत गढ़,
तेरा सराहें त्याग,
रागियो का प्राण है,
तेरा अतुल अनुराग।

पर न वनदेवी! न सम्पुट
खोल तू मत जाग,

विश्व के बाज़ार मे
मत बेच मधुर पराग!
खुली पखडियॉ कि तू बे-मोल
हाट है यह, तू हृदय मत खोल।

वृक्ष के अन्तर हृदय की
री मृदुलतर शक्ति!
फलो की जननी, सुगन्धो
की अमर अनुरक्ति!

छोड़ तू बड़भागिनी,
ये उभय लालच छोड़,
आज तो सिर काटने
मे हो रही है होड़!

अरी व्यर्थ नहीं, कि
प्रियतम मॉगता है दान,
ले अमर तारुण्य
अपने हाथ, को क़ुरबान

मिटेगी?-मिट जॉय चचल चाह,
मुंदी रह तू हो न अरी तबाह!
हॅस रही है और हँस
ले ख़ूब, त मत बोल,

भोगियो के चरण की
कुचलन बनाकर मोल।

तुच्छ से अनुराग पर,
वे खो रही है त्याग,
राग पर उनके, हुआ
अपमान - भोगी बाग।

चाह तेरी भी बनेंगी,
नाश का गोदाम ?
क्या तुझे भी चाहिए ?
तारुण्य का नीलाम ?

सँभल, अलिगण छू न पाँय पराग,
भैरवी सोरठ समझ, मत जाग !

क्या कहा, "कैसे सहूँ
इस कोकिला की हूक ?
और मैना की मधुरता
कर रही दो टूक ?

मृदुल चिडियो की चहक
पर महक है बेचैन ?
यह सवेरे की हवा,
आ गयी बनकर मैन ?"

ठीक है, तब भी छिड़े
तेरा प्रलय से जंग,
री प्रसादिनि ! हो न तेरा
वह तरुण तप भंग !

भावुकों के ऐ अमित अभिमान,
जाग मत अघ पर न कर अवसान।

मित्र के कर फेंकते
तुझ पर सुनहली धूल।
डालि पर तेरी रही
निर्दय मुनैया मूल।

कर रहे तुझको हवा
पत्ते, अपनपा भूल,
कामिनी का, दे रहा
झाड़ें, प्रमत्त दुकूल।

पर न इनकी मान तू,
है शाप ये वरदान,
हिमकिरीटिनि ने मँगाये
हैं सखी तव प्राण।

बिना बोले, मातृ-चरणों डोल,
और उस दिन तक हृदय मत खोल!

जब सिपाही उठे,
सेनी उठे ललकार,
मातृ-बन्धन-मुक्ति का
जिस दिन मने त्यौहार,

जब कि जन-पथ लाल हो,
हो किसी की तलवार,
आयगा सिर काटने
उस दिवस मालाकार,

करेगा हुंकार, कलियाँ
बन्द, हो तैयार
सूजियों से छेदने में
आज उनकी बार !

यह मधुर बलि, हो विजय की मोल,
मानिनी, तब तक हृदय मत खोल।
हिम किरीटिनि की परम उपहार !
री सजनि ! बन-राजि की शृङ्गार !

———

श्री माखनलाल चतुर्वेदी के ग्रन्थ

काव्य—त्रिधारा, हिमकिरीटिनी

गद्य—साहित्य देवता

नाटक—श्री कृष्णार्जुन युद्ध ।

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

'श्री नवीन' राष्ट्रीय कवि कहे गये हैं, पर उनकी राष्ट्रीयता स केतवाद के सामने गौण है। इसमें सन्देह नही कि नवीन ने कुछ राष्ट्रीय गीत उच्च कोटि के लिखे हैं पर ऐसे गीतो की स ख्या कम है। उनकी अधिकाश कविताओ मे सौन्दर्य का अन्वेषण है। कही कही उनके पीछे अध्यात्मवाद भी है, पर भाषा 'एक भारतीय आत्मा' की भाषा की भाँति ही 'ऊबड खाबड है उसमे साहित्यिक सुरुचि नहीं है। भावविन्यास मे 'नवीन' जी आधुनिक छायावादी कवियो से किसी भाँति भी हीन नहीं हैं। यद्यपि नवीन ने कोई दार्शनिकता प्रदर्शित नहीं की तथापि उनकी पक्तियो मे मानव-जीवन का इतिहास बड़े शक्तिशाली रूप मे है। नवीन मे देश-भक्ति की भावना के साथ सौन्दर्यान्वेषण की शक्ति भी बहुत अच्छी है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो कवि देश के दुख दर्द मे भैरव हुँकार जैसी कविता लिखता है वही किसी कोमलागी के सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है।

'नवीन' की देश-भक्ति मे भी सौन्दर्य की अनुभूति है।

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये,
प्राणो के लाले पड जाये, त्राहि त्राहि रव, नभ मे छाये
नाश और सत्यानाशो का धुँआधार जग मे छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जायें, भस्मसात भूधर हो जाये,
पाप-पुण्य सद्सद्भावो की धूल उड़ उठे दाये-बाये,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाये,
आँखो का पानी सूखे, वे शोणित की घूँटे हो जाये,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारो की वह, अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष मे एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये।

नियम और उपनियमो के ये बन्धन टूक-टूक हो जाये,
विश्वम्भर की पोषक बीणा के सब तार मूक हो जायें,

शान्ति दड टूटे उस महारुद्र का सिहासन थर्राये,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रागण मे घहराये,
नाश ! नाश !! हा महानाश !!!—की प्रलयकरी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये !

"सावधान ? मेरी वीणा मे चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी है मिजराबें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी है,
कठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण मे, हृत्तल मे अब क्षुब्ध युद्ध होता है,
झाड और झकाड व्याप्त हैं - इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर-तर से !

"कण-कण मे है व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है, कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है—आह ! सुप्त हैं सरक्षण की घडियाँ,
लटक रही है प्रतिपल मे इस नाशक सभक्षण की लड़ियाँ !
चकनाचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्मांड नाश के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान, निकली है मेरे अन्तर-तर से !

"दिल को मसल-मसल मेहदी, रचता आया हूँ मैं यह देखो—
एक-एक अगुलि परिचालन मे नाशक तांडव को पेखो !
विश्व-मूर्ति ! हट जाओ—यह वीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े - टुकड़े हो जाओगी, नाश मात्र अवशेष रहेगा।

आज देख आया हूँ, जीवन के सब राज समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक-सूत्र परख आया हूँ,
जीवन-गीत भुला दो कंठ मिला दो, मृत्यु गीत के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर-तर से!"

नंगों भूखों का यह गाना

सुन लो, गर तुम में हिम्मत है,
नंगो-भूखो का यह गाना,
अब तक के रोने वालो का
यह विकट तराना मस्ताना,

जिनको तुम कीड़ा समझे थे,
वे तो यारो! निकले मानव,
जो रेंगा करते थे अब तक,
आज कर उठे है वे ताण्डव,

देखो तो इन उरगो के भी
दो-दो कर-पद उग आये हैं,
इन निपट रेंगने वालो ने
अपने सर आज उठाये हैं।

तुम क्यों खीझो हो, ओ मालिक!
दो आज बधाई जन गण को,
आओ सम्मानित करो आज
इस नवल जागरण के क्षण को,

जिस क्षण प्रणोदना-जन्य तीव्र
तडपन से, चल हो अन्तस्तल,
जिस क्षण विकास की पीड़ा से
हो यह बाह्याभ्यन्तर विह्वल,

उस दिन तुम क्यों न निछावर हो
जाओ मानवता के ऊपर?
क्या काम खीझने का उस क्षण?
सोचो तो, ओ तुम लक्ष्मीधर!

हम क्यों उदास हत-आश बनें
जागृति की प्रातर्वेला में?
हम क्यों मीचें अपने लोचन
किरणों की नूतन खेला में?

जागृति में कुछ तो उठा पटक,
कुछ गड़बड तो होती ही है;
जागृति तो आखिर जागृति है,
वह तो निद्रा खोती ही है,

तुम विकट उग्र उद्योगी हो,
तुम व्यवसायी, तुम बहुधन्धी,
तुम हो औद्योगिक क्रान्तिपाल
मत बनो रूढ़ियों के बन्दी।

वे जो थे नव चेतना-शून्य,
अब अँगड़ाई ले उठे, अहो!
इनमें यों विचलित होने की
है कौन बात कुछ तुम्हीं कहो,

इनका यह नव जागरण दिवस,
है देवोत्थान पर्व जन का,
है इसमें तो प्रेरणा अगम,
इसमें है स्वर उद्बोधन का,

तुम करो आरती वसुधा की,
जागे धरती के पूत बली,
ये नव निर्माण स्वप्न-द्रष्टा,
सहारों के अवधूत बली,

अन्तरतर का तम-तोम हटा,
भय भागा, नींद हटी गहरी,
जग-जन-गण के उन्नायक ये
अब जाग उठे सज्जित प्रहरी,

यह दोहन-चक्र चला सदियों,
पिसती आयी यह मानवता,
निज डाढ़ चलाती रही खूब,
सदियों विकराली दानवता।

आँखें सहसा खुल चलीं आज,
टूटा सम्मोहन—इन्द्रजाल,
गतिमय, कृतिमय, धृतिमय महान
हो रहे आज सब दिशापाल।

तुम आज शिकायत करते हो,
जन-गण की उच्छृङ्खलता की,
पर कभी न देखी क्या तुमने
झाँकी जीवन-चंचलता की?

सोचो तो, यारो! वह बेला,
जब जड़मय पराभूत जग था,
उस क्षण जीवन-गति-रहित, शून्य
निष्प्राण अकम्पित जग-मग था,

हाँ, जब चेतन काँपा जड़ में,
तब हुई सृष्टि की सुसफलता,
पर, तब, तुम होते तो कहते,
'यह तो है अति उच्छृङ्खलता?'

क्षण भर को तो सोचो भाई,
जड़ चेतन का वह सन्धिकाल,
कितना विस्फोटक, प्रलयंकर,
होगा वह कितना अति कराल!

जीवनधारी होकर के तुम
हड-बड़ से यों घबड़ाते हो?
यह हेम कूप-मण्डूक-वृत्ति
जो तुम यों नाक चढ़ाते हो,

मानवता को कुछ गति देने,
कुछ देने जीवन-दान नया,
कुछ उसे बढ़ाने आगे को
आयी है यह जागृति अभया,

भूखों की रसना आज खुली,
मुर्दों में आयी जान ज़रा,
अब तक के सहने वालों में
आयी है एक उठान ज़रा,

मानवता तभी बढ़ी आगे
जब उभरे ये नीचे वाले,
आया बिहिश्त धरती पर तब
सब सँभले ये भोले-भाले,

सृष्टि पूर्णता की मोहक यह
कल्पना तभी आयी जग मे,
जब नया वक्त दौडने लगा
नीचे वालो की रग-रग मे,

अपने पर तुम यो मत फूलो
मत ऐठो, यो अपनेपन पर,
सिरजन की यह विराट झाँकी,
तन्मय हो देखो तो क्षण भर

तुम कौन तुम्हारा वैभव क्या?
दिनमान तुम्हारा कितना है?
इस महाकाल के सागर मे,
बुद्बुद सम तम को मिटना है,

सोचो, ब्रह्माड-मडल मे
भू-मडल की क्या हस्ती है?
इसमे भी कितनो छोटी-सी
संकीर्ण तुम्हारी बस्ती है!

इस काल-चक्र मे जँचते हैं
कितने छोटे ये मन्वन्तर,
इस विश्वरूप के दर्शन से
कँप उठता है बाह्याभ्यन्तर।

जीवन के दिन की लघुता को
तुम स्वयम् जरा नापो, भाई!
इस लघु दिन की निज करनी को
देखो, दिल मे कॉपा, भाई!

इतना छोटा अस्तित्व और
इतनी लिप्सा? इतना प्रमाद?
इतना शोषण? इतना दोहन?
इतना यह भैरव शखनाद?

इतना उत्पात भयानक यह,
इतनी क्रीडा राक्षसी क्रूर?
इस एक निमिष के लिए, हाय!
इतनी तेजी! इतना गरूर!

ओ धन-कुबेर! सत्तावादी!
ओ निपट कल्पना-शून्य जीव!
अपने विशाल भवनो की क्यो
रखते बालू पर सदा नींव?

जग-पीड़न के आधारो पर,
कब स्थायी गृह-निर्माण हुआ?
विद्वेषो के व्यवहारो से
मानव-मन का कब त्राण हुआ?

ब्रह्माड विश्व मे यह धरती
है चुटकी भर मृत्तिका-मात्र!
उसमे भी यह वैभव सारा
है मोह-विनिर्मित भग्न पात्र!

इतने ही भर के लिये खूब
उत्पात मचा नभ-जल-थल मे,
पड गयी मानवी सृष्टि खूब!
इस सर्वहारिणी हलचल मे,

इस धन सम्मोहन-बन्धन से
मानवता को करने विमुक्त—
हैं आज गा उठे मस्तानी
रागिणी हमारे यज्ञ-मुक्त,

चेतना नवल हममे आयी
निद्रा टूटी, भय भाग गये,
अँज गया प्रकाशाजन दृग मे,
हम जाग गये! हम जाग गये!!

हृद्गति धड़की, फडकी बाहें,
कडकी बिजली भड़कीं आहें,
नर मुक्ति-मार्ग की आज खुलीं
वे चौड़ी नयी-नयी राहें,

हम इन राहो से लायेंगे
नव निर्माणों के भव्य भाव,
हम इन राहो पर जायेंगे,
इसमे क्या खटका ? क्या दुराव ?

हम जागे तो ऐसे जागे
कि जागते ही दीखा सपना,
ऐसा सपना जिससे देखा
हमको जग अपना ही अपना;

मिट गया भेद, मिल गया भेद
सब खेद मिटा, सकोच हटा,
सीमा नि.सीमा बन आयी,
मेरे-तेरे का पाप कटा,

कल्पना हंसिनी ने अपने
डैने फैलाये तान-तान,
पहले का लघु आकाश आज,
बन गया असीमित आसमान;

समता की ममता ने हमको,
जन-गण-उद्धारण मन्त्र दिया,
हम करने निकले सिद्ध आज
जन-सत्ता-शासन-तन्त्र क्रिया;

बाधाएँ हैं मग मे भाई!
आने दो, स्वागत है उनका,
हम क्रान्तिदर्शियो का समूह
पक्का है अपनी इस धुन का,

हम ख़ूब जानते हैं, जग मे
विप्लव कोई खिलवाड़ नहीं
है कर्म्म कठिन, पर निश्चित ही
है तिल की ओट पहाड यही,

निकले हैं अपने मस्तक को
हम आज हथेली पर लेकर
हम नगे, भूखे, जाहिल हैं,
हम निपट निराश्रित, हम बेघर,

पर क्या ही यह युग-धर्म्म ख़ूब
नगो-भूखों पर भार पडा,
इनको नव सिरजन करना है,
हमको करना सहार बड़ा,

है देख रहा नव आशा से
हमको समस्त संसार खड़ा,
हम लिए लुकाठी करते हैं
जग बीच अग्नि-संस्कार कड़ा;

हु-हू करती लपटे उठतीं,
हो रहीं रूढ़ियाँ भस्म आज
हो रही पूर्ण धीरे-धीरे
यों विश्व-क्रान्ति की रस्म आज,

इस होली में सब जलता है,
हम भी हो जाते राख यहाँ,
पर इसी राख से फिर बनते
हम जैसे सौ-सौ लाख यहाँ,

हम नव प्रकाश के पुञ्ज अतुल
हम उच्चाकाश-दीप जग के,
हम पन्थ अगम हम पन्थ विकट
हम निर्म्माता नव-नव-मग के,

इस जगती मे हम विचर रहे,
ले स्वर्ग-राज्य का पुण्य-भाव,
इस मुक्त हमारी वाणी मे
है हृदय-स्पन्दन का खिंचाव,

मानवता उट्ठेगी, यारो!
इसमे शक, शुबहा नहीं ज़रा,
है उधर ज़ालिमो की तोपे,
तो सीना इधर खूब उभरा,

मर मिट जायेगे हम, तो क्या
रह जायेगी असफला क्रान्ति ?
है क्रान्ति सत्य, है क्रान्ति नित्य,
असफलता तो है एक भ्रान्ति।

— —

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

चलित चरणो की जगह अब, कब मिलेगे ध्रुव चरण वे ?
युग युगान्तर के समाश्रय, रे अडिग, अशरण-शरण वे !

इधर देखा, उधर झाँका, मिल गये कुछ चपल लोचन,
मैं समझ बैठा कि मुझको मिल गये संकट-विमोचन,
किन्तु करता हूँ विगत का आज जब सिंहावलोकन,
देखता हूँ तब अनस्थिर भावना के आचरण ये।

प्राण के उच्छ्वास मे मैं खींच लाया शूल कितने !
और इस विश्वास मे उड़-उड़ गये हैं फूल कितने !
दान मे स्मृति-रूप-कंटक मिल गये हैं आज इतने—
कि उन सुमनो के हुए हैं शूल ही नव सस्करण ये।

नेत्र विस्फारित किये जल, थल असीमाकाश मे नित—
फिर रहा है खोजता कुछ चीज मैं व्याकुल, प्रवंचित,
भाल-रेखा पर हुई है चिर विफलता-छाप अंकित,
विकल अन्वेषण-सुरति को कब करेंगे प्रिय वरण वे ?

दीप लघु मै, तव अलख कर से समय नद मे, प्रवाहित,
नित्य-प्रति प्रतिकूलता के प्रबल झोको से प्रताड़ित,
टिमटिमाता बह रहा हूँ मैं जनम का ही निराश्रित,
दीप-सम्पुट कब बनेगी कर अँगुलियाँ मनहरण वे ?

कौन जाने, यह विकम्पित दीप तुमने कब बहाया ?
क्या पता तुमने इसे फिर कब बुझाया, कब जगाया ?
क्या पता इतना, कि इससे आज तक प्रश्रय न पाया,
है बहाये जा रहे इस को, प्रवाही उपकरण ये।

कँप रही है ज्योति, अब तो तुम इसे कर दो अनिंगित
तव निवास-स्थान मे अब लौ लगे इसकी अशंकित,
सजन ज्योतिर्मय करो निज पुंज मे इसको सुसचित,
थाम दो अब तो ज़रा इस के अवश-से सन्तरण ये !

———

कुहू की बात

चार दिन की चाँदनी थी, फिर अँधेरी रात है अब,
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहू की बात है अब !
चाँदनी मेरे जगत की भ्रान्ति की है एक माया,
रश्मि-रेखा तो अथिर है, नित्य है घन तिमिर छाया,
ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पाख आया,
रात है मेरी सजनि, इस भाल मे नव प्रात है कब ?

इस असीमाकाश मे भी लहरता है तिमिर-सागर,
कौन कहता है गगन का वक्ष है अह-निशि उजागर ?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्धतम का ही यहाँ उत्पात है सब।

मै अँधेरे देश का हूँ चिर प्रवासी, सतत चिन्तित,
हृदय विभ्रम-जनित आकुल, अश्रु से मन पन्थ सिंचित,
ओ प्रकाश-विकाश, ओ नव रश्मि हास-विलास रजित
मत चमकना अब, निराश्रित हूँ, शिथिल से गात है सब।

सजन मेरे सो रहे हैं

सजन मेरे सो रहे हैं
आज द्वन्द्वातीत से वे योग-निद्रित हो रहे हैं
सजन मेरे सो रहे हैं।

सुख-शयन के भार से हैं युग दृगच्छद अति थकित वे,
ध्यान वीणा नाद मे हैं रम गये लोचन चकित वे;
नयन-तारा, पलक-काराबद्ध हैं, अति गति चलित वे,
श्वास-दोलाचलन मे प्रिय भार तन्द्रिल ढो रहे हैं,

सजन मेरे सो रहे हैं।

नींद में घुल-मिल गयी है जागरण की सब व्यथाएँ,
स्वप्न के संकेत की है, अटपटी-सी सब कथाएँ;
शून्य-निद्रा लोक-शोभा सजन जागे तो बताएँ,
इस समय तो चित्त की चिर चेतना वे खो रहे हैं,
सजन मेरे सो रहे हैं।

सुप्त सरिता-धार में अस्तित्व तरणी पड़ गयी है,
पूर्ण संज्ञा शून्यता से भँवर लौं वह बढ़ गयी है,
शान्ति के पतवार की शोभा अनोखी नित नयी है,
नाव में विश्रान्ति-जल से मुग्ध कमल प्रिय धो रहे हैं,
सजन मेरे सो रहे हैं।

ले चलो कुछ देर को तो शयन-आपगा-कूल तक, प्रिय!
दृग निमीलन मत करो अब थक गये है ये पलक, प्रिय!
नित्य जागृति वेदना से हैं शिथिल मन, बुद्धि इन्द्रिय,
आज टुक विश्रान्ति के हित युगल लोचन रो रहे हैं,
सजन मेरे सो रहे हैं।

लिख विरह के गान

लिख विरह के गान, रे कवि !
खूब खिलने दे अधर पर, दुख भरी मुसकान, रे कवि !
लिख विरह के गान।

इस झडी मे बढ़ गयी है शून्यता मम हिय विकल की,
असहनीया हो गयी हैं सतत धारें मेघ-जल की ,
किन्तु कब उनने सुनी है प्रार्थना आतुर निबल की ?
तू लगा मम वेदना का आज कुछ अनुमान रे कवि !
लिख विरह के गान।

व्योम मे यह ढूँढता-सा फिर रहा निशि-नाथ उनको,
मेघ तरियाँ गगन-सर मे खोजती हैं उस निपुण को,
कवि ! सदेही, सगुण करदे तू सनेही चिर निगुण को,
शून्य में कर शब्द बेधी मन्त्र-शर सन्धान, रे कवि !
लिख विरह के गान।

नित्य निर्गुण चित्रपट में सगुणता की रेख भरना ,
है यही पुरुषार्थ नर का अलख का अभिषेक करना ;
अतल से कुछ खींच लाना, शून्य मे साश्रय विचरना
यदि न यह सम्भाव्य हो तो क्यों न तड़पें प्राण रे कवि !
लिख विरह के गान।

नेह मानस-जात मेरा, यह चला अब मूर्त्त खोने,
मचल उट्ठा आज है वह निज स्वरूप अमूर्त्त खोने,
तड़पता है आधिभौतिक भाव मे सस्फूर्त्त होने,
आत्म रूपाधार को वह खोजता अनजान, रे कवि !
लिख बिरह के गान।

प्राण प्रिय के रूठने की क्यो मिली है सूचना यह ?
हो गयी क्यो आज उनकी हिय-दशा यो उन्मना यह ?
नेहदानी की विरति की हो रही क्यों व्यजना यह ?
शिथिल, दीना पड़ गयी क्यो मम अतृप्त उड़ान रे कवि !
लिख विरह के गान।

तप्त प्राणो ने निरन्तर कौन सी विपदा न झेली ?
किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली,
सतत अन्वेषण-क्रिया है बन गयी जीवन-सहेली,
आह ! क्या योही पड़े रह जायँगे अरमान, रे कवि ?
लिख विरह के गान।

आम्र-वन के सघन झुरमुट से पपीहे ने पुकारा,
'पी, कहाँ ?' मैंने तड़प कर शून्य दिङ् मंडल निहारा,
'पी, कहाँ ?' प्यासे दृगो का है कहाँ दर्शन - सहारा ?
क्यो नहीं पहुँचा वहाँ तक निरत मेरा ध्यान ? रे कवि !
लिख विरह के गान।

आज इस धूमिल घड़ी मे कौन यह सन्देश लाया ?
साँझ आयी, किन्तु उनका राज-रथ अब तक न आया !
ढीठ मन यह पूछता है, क्यो उन्हे अब तक न पाया ?
क्या बताऊँ क्यो नहीं आये सजन रसखान ? रे कवि
लिख विरह के गान

हिय-रार मेरी

भ्रमित है छिन्नाभ्र सी यह रसभरी हिय रार मेरी,
कुपित झंझावात मे पड़ उड़ चली मनुहार मेरी,
अतल मानस नील नभ मे एक दिन कुछ भाव जागे
कुछ हुआ भ्रम-सा अचानक आ गया कुछ आँख आगे
सघन घन-गण घुमड़ घहरे, प्राणदाहक त्रास भागे।
यह हुआ अनुभव कि आयी सजल ऋतु इस बार मेरी,
पर, अचिर थी मेघ माला, वह तिरोहित हो गयी है,
आज फिर से क्षितिज-रेखा ताप-लोहित हो गयी है,
बिज्जु-रेखा ? कौन जाने यह किधर को खो गयी है ?
उठ चली आँधी, हुई है वह मधुरिमा क्षार मेरी,
हास छिटका, रौप्य-रेखा खींचते इस व्योम पथ पर—
माघ - मेघो के चमकते, रुपहले गतिवान रथ पर,—
मुदित आरोहित हुए तुम आ गये थे, ललन मनहर !

बस तभी पहले पहल, उस दिन, हुई थी हार मेरी।
श्वास ओ' निश्वास का यह द्रुत समीरण-तुरग चंचल,
ले चला मुझको जहाँ थे अर्ध मीलित तब दृगंचल,
किन्तु तुम तो डाल बैठे थे मुखाम्बुज पर पटाचल,
लो, निराश्रित हो गयी है मन-लगन सुकुमार मेरी।
रस भरी हिय-रार मेरी।

[स्फुट]

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के ग्रन्थ

काव्य—विस्मृता उर्मिला, कुंकुम।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

श्रीमती सुभद्रा कुमारी की रचनाएँ सबसे पहले 'कर्मवीर' के द्वारा साहित्य संसार को प्राप्त हुई। इन रचनाओं में जितनी सरलता थी उतनी ही स्वाभाविकता। धीरे-धीरे सुभद्राजी की रचनाओं ने शक्ति प्राप्त कर हिन्दी काव्य साहित्य में आदरणीय स्थान पाया।



सुभद्रा जी की रचनाओं में नारी मनोविज्ञान की स्वाभाविक भावना है। उनकी रचनाएँ उनके पारिवारिक अनुभव की महान् कृतियाँ हैं और उनमें दुख सुख की विविध भावनाएँ किसी स्रोतस्विनी की तरंगों की भाँति ही सहज और सौन्दर्य-पूर्ण हैं।

जिन रचनाओं में सुभद्रा कुमारी जी का जीवन अंकित हुआ है वे उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। सुभद्रा कुमारी ने वीर क्षत्राणी बन कर ओजपूर्ण शब्दों में भारत का गौरव-गीत गाया है। उनकी 'झाँसी वाली रानी' कविता अपनी भावना में अद्वितीय है। सुभद्रा जी की कविताओं

मे अलकारा का सौन्दर्य नही किन्तु भावोन्मेष का सौन्दर्य है। उनमे सरलता है, प्रवाह है।

सुभद्रा जी एक कहानी लेखिका भी हैं। 'बिखरे मोती' मे उनकी कहानियाँ जीवन की स्वाभाविकता लिये हुये है, उन्हे काव्य और कहानी पर दो बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सेकसरिया पारितोषिक मिला है।

सुभद्रा जी का देश-प्रेम उनके नारीत्व के तेज से मिल कर बहुत शक्तिशाली हो गया है।

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,

चमक उठी सन सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

कानपूर के नाना की, मुँहबोली बहिन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी,
नाना के सँग पढ़ती थी वह नाना के सँग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी,

वीर शिवा जी की गाथाऐं
उसको याद ज़बानी थीं,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयम् वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारो के वार,
नकली युद्ध-व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,

महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी
भी आराध्य भवानी थी
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आयी लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राज महल मे बजी बधाई खुशियाँ छायीं झाँसी मे,
सुभट बुंदेलो की विरुदावलि-सी वह आयी झाँसी मे,

चित्रा ने अर्जुन को पाया,
शिव से मिली भवानी थी,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलो मे उजियाली छायी,
किन्तु काल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लायी,
तीर चलाने वाले कर मे उसे चूड़ियाँ कब भायीं!
रानी विधवा हुई, हाय! विधि को भी नहीं दया आयी!

निसन्तान मरे राजा जी
रानी शोक-समानी थी,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन मे हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया;
फौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया।

अश्रुपूर्ण रानी ने देखा
झाँसी हुई बिरानी थी,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लडी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

अनुनय विनय नही सुनता है, विकट शासको की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था जब यह भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गयी काया,
राजाओ, नव्वाबो को भी उसने पैरो ठुकराया,

रानी दासी बनी, बनी यह
दासी अब महारानी थी।
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लडी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

छिनी राजधानी देहली की, लखनऊ छीना बातो-बात,
कैद पेशवा था बिठूर मे, हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपूर, तंजौर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात?
जब कि सिन्ध, पंजाब, ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात;

बंगाले मद्रास आदि की
भी तो वही कहानी थी;
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी रोयी रनिवासों में, बेगम ग़म से थी बेज़ार,
उनके गहने-कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार;
सरे-आम नीलाम छापते थे अँगरेज़ों के अख़बार,
'नागपूर से जेवर ले लो' 'लखनऊ के लो नौलख हार',

यों परदे की इज्ज़त परदेशी
के हाथ बिकानी थी;
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो
सोयी ज्योति जगानी थी,
बुन्देलों हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

महलों ने दी आग, झोपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आयी थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छायी थी,
मेरठ, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचायी थी,

जबलपूर कोल्हापुर में भी
कुछ हलचल उकसानी थी;
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी;
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

लेकिन आज जुर्म कहलाती
उनकी जो कुरबानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

इनकी गाथा छोड़, चले हम झाँसी के मैदानों मे,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानो मे,
लेफ्टिनेंट वौकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानो मे,
रानी ने तलवार खीच ली, हुआ द्वन्द्व असमानो मे,

ज़ख्मी होकर वौकर भागा,
उसे अजब हैरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी बढ़ी कालपी आयी, कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना तट पर अँगरेज़ो ने फिर खायी रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी, किया ग्वालियर पर अधिकार,

अँगरेजो के मित्र सिन्धिया
ने छोड़ी रजधानी थी,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लडी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

विजय मिली, पर अँगरेजो की फिर सेना घिर आयी थी,
अबके जनरल स्मिथ सम्मुख था, उसने मुँह की खायी थी,
राना और मन्दरा सखियाँ रानी के सँग आयी थीं,
युद्ध क्षेत्र मे उन दोनो ने भारी मार मचायी थी,

पर पीछे ह्यू रोज आ गया,
हाय! घिरी अब रानी थी,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
ख़ूब लडी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

तो भी रानी मार काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने मे आ गये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार-पर-वार

घायल होकर गिरी सिंहनी
उसे वीरगति पानी थी,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी गई सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आयी बन स्वतन्त्रता नारी थी,

दिखा गई रथ, सिखा गयी
हमको जो सीख सिखानी थी,
बुन्देले हरबोलो के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

जाओ रानी! याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,

तेरा स्मारक तू हीं होगी,
तू .खुद अमिट निशानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

———

विजयादशमी

विजये! तूने तो देखा है
वह विजयी, जो राम, सखी!
धर्म भीरु सात्विक निश्चल मन
वह करुणा का धाम, सखी!
बनवासी असहाय और फिर
हुआ विधाता वाम, सखी!
हरी गयी सहचरी जानकी
वह व्याकुल घनश्याम सखी!
कैसे जीत सका रावण को
यह तो था सम्राट्, सखी!
रक्षक, राक्षस-सैन्य सबल था,
प्रहरी, सिन्धु विराट, सखी!

राम समान हमारा भी तो
नही रहा अब राज, सखी!
राजदुलारो के तन पर है
सजे फकीरी साज, सखी!
हो असहाय भटकते फिरते
बनवासी से आज सखी!
सीता-लक्ष्मी हरी किसी ने!
गयी हमारी लाज, सखी!
रामचन्द्र की विजय कथा का
भेद बता आदर्श, सखी!
पराधीन से छूटे यह
प्यारा भारतवर्ष सखी!
सबल पुरुष यदि भीरु बने तो,
हमको दे वरदान सखी!
बतलाएँ उठ पडे देश मे
करें युद्ध घमसान, सखी!
पापो के गढ़ टूट पडें औ,
रहना तुम तैयार, सखी!
विजये! हम तुम मिलकर लेगी
अपनी माँ का प्यार, सखी!

———

मातृ-मन्दिर में

व्यथित है मेरा हृदय-प्रदेश
चलूँ किसको बहलाऊँ आज?
बताकर अपना दुख-सुख उसे
हृदय का भार हटाऊँ आज।
चलूँ माँ के पद-पंकज पकड़,
नयन जल से नहलाऊँ आज,
मातृ-मन्दिर में—मैंने कहा—
'चलूँ दर्शन कर आऊँ आज।'

किन्तु यह हुआ अचानक ध्यान
दीन हूँ, छोटी हूँ, अज्ञान!
मातृ-मन्दिर का दुर्गम मार्ग
तुम्हीं बतला दो, हे भगवान्!
मार्ग के बाधक पहरेदार
सुना है ऊँचे से सोपान,
फिसलते हैं ये दुर्बल पैर
चढ़ा दो मुझको, हे भगवान्!

आह! वे जगमग-जगमग जगी
ज्योतियाँ देख रही है वहाँ,
शीघ्रता करो, वाद्य बज उठे
भला मै कैसे जाऊ वहाँ?
सुनायी पड़ता है कलगान
मिला दूँ मैं भी अपनी तान,
शीघ्रता करो, मुझे ले चलो
मातृ-मन्दिर मे हे भगवान्!

चलूँ, मै जल्दी से चढ़ चलूँ,
देख लूँ, माँ की प्यारी मूर्ति,
आह! वह मीठी-सी मुसकान
जागती होगी न्यारी स्फूर्ति,
उसे भी आती होगी याद!
उसे? हाँ आती होगी याद,
नही रूठूँगी मै, लो, आज
सुनाऊँगी उसको फ़रियाद।

कलेजा माँ का मै सन्तान,
करेगी दोषो पर अभिमान,
मातृ-वेदी पर घंटा बजा,
चढ़ा दो मुझको, हे भगवान्!

सुनूँगी माता की आवाज़,
रहूँगी मरने को तैयार,
कभी भी उस वेदी पर, देव!
न होने दूँगी अत्याचार।

न होने दूँगी अत्याचार
चलो, मै हो जाऊँ बलिदान,
मातृ-मन्दिर मे हुई पुकार—
चढ़ा दो मुझको, हे भगवान्!

———

समर्पण

सूखी सी अधखिली कली है,
परिमल नही, पराग नही,
किन्तु कुटिल भौरो के चुम्बन
का, है इस पर दाग नहीं।

तेरी अतुल कृपा का बदला
नही चुकाने आयी हूँ,
केवल पूजा मे ये कलियाँ
भक्ति-भाव से लायी हूँ।

प्रणय-जल्पना, चिन्त्य-कल्पना
मधुर वासनाएँ प्यारी;
मृदु अभिलाषा, विजयी आशा,
सजा रही थीं फुलवारी;

किन्तु गर्व का मौक़ा आया,
यदपि गर्व था वह तेरा;
उजड़ गयी फुलवारी सारी
बिगड़ गया सब कुछ मेरा !

बची हुई स्मृति की ये कलियाँ,
मैं बटोर कर लायी हूँ,
तुझे सुझाने, तुझे रिझाने,
तुझे मनाने, आयी हूँ।

प्रेम-भाव से हो, अथवा हो,
दया भाव से ही स्वीकार;
ठुकराना मत इसे जान कर,
मेरा छोटा सा उपहार।

[मुकुल से]

———

वीरों का कैसा हो वसन्त ?

वीरो का कैसा हो वसन्त ?
आ रही हिमांचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग्—दिगन्त,
वीरो का कैसा हो बसन्त ?
फूली सरसो ने दिया रग,
मधु लेकर आ पहुँचा अनग,
वधु-वसुधा पुलकित अग-अंग,
है वीर देश मे किन्तु कन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?
भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रग और रण का विधान,
मिलने आये है आदि अन्त,
वीरो का केसा हो वसन्त ?

गलबाहें हो, या हो कृपाण,
चल चितवन हो, या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित-त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके ! तुझमे क्यो लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

हल्दीघाटी के शिला-खड !
ऐ दुर्ग सिह-गढ़ के प्रचड !
राणा, ताना का कर घमड,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
है क़लम बँधी, स्वच्छन्द नहीं,
फिर हमे बतावे कौन ? हन्त !
वीरों का कैसा हो बसन्त ?

[त्रिधारा से]

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान के ग्रन्थ

काव्य—मुकुल ।

कहानी—बिखरे मोती, उन्मादिनी, एकादशी ।